MAPH-116 (N)

समकालीन पाश्चात्य दर्शन : भाग–2

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

खण्ड-1 हुर्सल

इकाई-1	संवृत्तिशास्त्र का सिद्धान्त	5–16
इकाई-2	प्राकृतिवाद एवं मनोविज्ञान की अलोचना	17–26
इकाई-3	इपोरवे एवं अपचयन विषयापेषी चेतना (संवृत्तिशास्त्रीय विधि)	27-34
इकाई-4	हुर्सल का ऐतिहासिक महत्व	35-42

खण्ड-2 किर्केगार्ड

इकाई-5	सामान्य परिचय	45-56
इकाई-6	सत्य की आत्मनिष्ठता	57–66
इकाई-7	अस्तित्वपरक द्वन्द्वन्याय (मानव अस्तित्व की तीन अवस्थाएं)	67–78
इकाई-8	सौन्दर्यात्मक अवस्था	79–90
इकाई-9	नैतिक अवस्था	91–99
इकाई-10	धार्मिक अवस्था	101–111

खण्ड-3 ज्यां पाल सार्त्र

इकाई-11	नास्तिक अस्तित्ववाद	117–130
इकाई-12	अस्तित्व एवं सार का सम्बन्ध	131–142
इकाई-13	स्वतंत्रता एवं उत्तर दायित्व	143–158
इकाई-14	दुरास्था	159–168
इकाई-15	अस्तित्ववाद एवं मानववाद	169–176

MAPH -116

खण्ड 01 : सवृत्तिशास्त्र (फेनोमेनालॉजी)

इस खण्ड में निम्नलिखित इकाइयाँ है–

- संवृत्तिशास्त्र का अर्थ एवं स्वरूप
- मनोविज्ञान एवं प्रकृतिवादी विचारों की आलोचना
- संवृत्तिशास्त्रीय विधि
- संवृत्तिशास्त्र का ऐतिहासिक महत्त्व

संवृत्तिशास्त्र बीसवीं सदी में प्रमुख एवं नवीन दर्शन के रूप में दर्शन शास्त्र के जगत में प्रतिष्ठित हुआ। इसका विकास यूरोप महादेश विशेषतः जर्मनी में हुआ। संवृत्तिशास्त्र वास्तव में दर्शन–तंत्र से अधिक दर्शन–प्रणाली है। जिसका उद्देश्य हमें दार्शनिकता के उस प्रारंभ बिंदु पर ले जाना है जो सभी प्रकार के पूर्व मान्यताओं पूर्वाग्रहों और पक्षपात से रहित है, जो मनोवैज्ञानिक, प्राकृतिक एवं आदिम वस्तुवादी दृष्टिकोण से मुक्त है। इस विचारधारा का सम्यक् विश्लेषण और विकास हुसर्ल द्वारा होने से हुसर्ल को ही संवृत्तिशास्त्र का प्रणेता माना जाता है।

MAPH-116 (N)

समकालीन पाश्चात्य दर्शन :
भाग–2

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

खण्ड

1

हुर्सल

इकाई-1	संवृत्तिशास्त्र का सिद्धान्त	5–16
इकाई-2	प्राकृतिवाद एवं मनोविज्ञान की अलोचना	17–26
इकाई-3	इपोरवे एवं अपचयन विषयापेषी चेतना (संवृत्तिशास्त्रीय विधि)	27-34
इकाई-4	हुर्सल का ऐतिहासिक महत्व	35-42

mÙkj izn'k jkt f kf V.Mu e Dr fo'ofo|ky;] i;kxjkt

ijkLukrd n'ku'kkL=

lj{kd ,o ekxn'kd

प्रो0 सीमा सिंह — कुलपति उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

fo'k"kK lfefr

प्रो0 सत्यपाल तिवारी — निदेशक, मानविकी विद्याशाखा (उ0प्र0 राजर्षि ट0मु0वि0वि0)

प्रो0 जटाशंकर (सेवानिवृत्त) — दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

प्रो0 ऋषिकान्त पाण्डेय — दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद वि0वि0, प्रयागराज।

प्रो0 हरिशंकर उपाध्याय — दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद वि0वि0, प्रयागराज।

प्रो0 अतुल मिश्रा — असि0 प्रोफेसर मानविकी विद्याशाखा, उ0प्र0रा0 टण्डन मु0वि0वि0, प्रयागराज।

y[kd

डॉ0 प्रबुद्ध मिश्रा — एसोसिएट प्रोफेसर, नेहरु ग्राम भारती वि0वि0, प्रयागराज।

डॉ0 अतुल मिश्रा — असि0 प्रोफेसर (संविदा) उ0प्र0रा0ट0मु0 वि0वि0 प्रयागराज।

डॉ0 श्याम कान्त — असि0 प्रो0, आर्यकन्या डिग्री कॉलेज इ0वि0वि0, प्रयागराज।

lEiknd

प्रो0 ऋषिकान्त पाण्डेय — विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इ0वि0वि0, प्रयागराज।

ikB;Øe leUo;d@ifjekid

डॉ. अतुल मिश्रा — असि0 प्रोफेसर (दर्शनशास्त्र) उ0प्र0रा0 टण्डन मु0वि0वि0, प्रयागराज।

प्रो0 सत्यपाल तिवारी — उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विष्वविद्यालय, प्रयागराज।

2023 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विष्वविद्यालय, प्रयागराज 2023

ISBN- 978-81-19530-04-5

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्यसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विष्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाषन : उत्तर प्रदेष राजर्षि टण्डन विष्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रकाषक : कुलसचिव, कर्नल विनय कुमार उ0प्र0 राजर्षि टण्डन विष्वविद्यालय, प्रयागराज–2023

मुद्रकः– चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज

इकाई – 01 सवृत्तिशास्त्र की अर्थ एवं स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

1.1 उद्देश्य

1.2 प्रस्तावना

1.3 पाठ–प्रस्तुतीकरण

1.3.1 विषय–प्रवेश

1.3.2 संवृत्तिशास्त्र का अर्थ

1.3.3 हुसर्ल के विचारों की भूमिका

1.3.4 संवृत्तिशास्त्र का सामान्य स्वरूप एवं लक्ष्य

1.4 सारांश

1.5 शब्दार्थ–सूची

1.6 संदर्भ एवं उपयोगी पुस्तक

1.7 सम्बन्धित–प्रश्न

1.1 उद्देश्य

इस खण्ड का अध्ययन करने के पश्चात आप निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति करने में सक्षम होंगे :

- संवृत्तिशास्त्र के उद्भव को जानने में।
- संवृत्तिशास्त्र के अर्थ को जानने में।
- हुसर्ल के विचारों को जानने में।
- हुसर्ल के संवृत्तिशास्त्र का सामान्य स्वरूप एवं लक्ष्य को जानने में।

1.2 प्रस्तावना

संवृत्तिशास्त्र बीसवीं सदी में प्रमुख एवं नवीन दर्शन के रूप में दर्शनशास्त्र के जगत में प्रतिष्ठित हुआ। इसका विकास यूरोप महादेश विशेषतः जर्मनी में हुआ। संवृत्तिशास्त्र वास्तव में दर्शन–तंत्र से अधिक दर्शन–प्रणाली है। जिसका उद्देश्य हमें दार्शनिकता के उस प्रारंभ बिंदु पर ले जाना है जो सभी प्रकार के पूर्वमान्यताओं पूर्वाग्रहों और पक्षपात से रहित है, जो मनोवैज्ञानिक प्राकृतिक एवं आदिम वस्तुवादी दृष्टिकोण से

मुक्त है। इस विचारधारा का सम्यक विश्लेषण और विकास हुसर्ल द्वारा होने से हुसर्ल को ही संवृत्तिशास्त्र का प्रणेता माना जाता है।

हुसर्ल का जन्म 8 अप्रैल, 1859 ई0 को जर्मनी में हुआ था। हुसर्ल की प्रमुख रचनाएं हैं: लॉजिकल इन्वेश्टिगेशन, आइडियाज, कार्टेजियन मेडीटेशन्स, आइडिया ऑफ फेनामेनालॉजी, फार्मल एण्ड ट्रांसिडेन्टल लॉजिक।

हुसर्ल ने देखा कि दार्शनिक चिंतन का प्रचलित ढंग एक प्रकार से असफल है क्योंकि वह जिस आधार पर टिका है वह चिंतन का वास्तविक आधार ही नहीं है। चिंतन का वास्तविक आधार वही हो सकता है जिसे किसी अन्य आधार की अपेक्षा न हो। जिसे किसी अन्य पर झुकने की आवश्यकता न हो। अतः चिंतन के वास्तविक आधार को **स्वतःसिद्ध** तथा **स्वतः प्रदत्त** होना आवश्यक है। अन्यथा सभी चिंतन पूर्णतया कृत्रिम ही हो जायगा। इस प्रकार हुसर्ल के अनुसार ऐसी स्वतः सिद्ध आधार पर चिंतन को बिठाने का प्रयास संवृत्तिशास्त्र की दृष्टि है तथा उस आधार को पकड़ने का ढंग संवृत्तिशास्त्र की विधि है।

1.3 पाठ-प्रस्तुतीकरण :

1.3.1 विषय-प्रवेश :

संवृत्तिशास्त्र को सामान्यतः संवृत्तिशास्त्रीय विधि के साथ एक रूप कर दिया जाता है, क्योंकि संवृत्तिशास्त्र के अनुरूप चिंतन का अर्थ है उस विधि का प्रयोग करना।

हम भी यहाँ मूलतः उस विधि की ही रूपरेखा को स्पष्ट करेंगे। हमारा अभिप्राय यहां से संवृत्तिशास्त्र के अन्य विचारकों के विचारों को प्रस्तुत करना नहीं है। हम यहाँ केवल हुसर्ल के विचारों का ही विवरण देंगे। उस विवरण में मूलतः संवृत्तिशास्त्र के दार्शनिक चिंतन की विधि ही स्पष्ट होगी। किंतु हुसर्ल के विचारों में प्रवेश करने से पहले संवृत्तिशास्त्र के अर्थ, स्वरूप, प्रकृति एवं कार्य-प्रणाली के विषय में एक प्रारंभिक जानकारी अनिवार्य है।

संवृत्तिशास्त्र क्या है? प्रारंभ में ही संवृत्तिशास्त्र का एक प्रारंभिक अवबोध हुसर्ल के संवृत्तिशास्त्र को समझने में सहायक सिद्ध हो सकता है। इसकी स्पष्ट रूपरेखा तो हुसर्ल के विचारों के विवरण के बाद ही उभरेगी। वैसे हुसर्ल ने कहा भी है कि संवृत्तिशास्त्र को उससे अलग होकर तटस्थ दृष्टि से पकड़ने की चेष्टा इसकी विशिष्टताओं को समझने में असफल हो जाएगी क्योंकि संवृत्तिशास्त्र को जानने के लिए इसके साथ चलना अनिवार्य हो जाता है। इस दृष्टि से क्या स्पष्ट होता है उसका दर्शन तभी हो सकता है जब इस दृष्टि के अनुरूप दृष्टि अपनाई जाए। किंतु उसके लिए भी एक प्रारंभिक समझ उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

यह उपयोगी इस कारण से भी होगा क्योंकि दर्शन की परंपरा में फेनोमेना (संवृत्ति) शब्द का अपना एक साहचर्य अर्थ उभरा हुआ है। इसी कारण फेनोमेनोलॉजी (संवृत्तिशास्त्र) शब्द के उच्चारण से ही मन में कुछ साहचर्य उत्पन्न हो जाता है। अतः स्पष्ट कर लेना अनिवार्य है कि फेनोमेनोलॉजी का दर्शन उस साहचर्य से सर्वथा पृथक है। यह 'फेनोमेनोलॉजी' फेनोमेनोलिस्म नहीं है। फेनोमेनोलॉजी संवृत्तिवाद है, उस अर्थ में फेनोमेनोलॉजी को संवृत्तिशास्त्र नहीं कह सकते। संवृत्तिवादी परंपरा में संवृत्ति तथा तत्त्व अथवा 'दृश्य वस्तु' एवं 'अपने में वस्तु' में भेद किया जाता है। काण्ट जैसे विचारकों ने इस प्रकार का भेद किया है। उनके अनुसार अपने में वस्तु 'कुछ' है, किंतु जो ज्ञात होता है, जो दिखाई देता है, वह उससे भिन्न है। उसे ही इस प्रकार के विचारक संवृत्ति (फेनोमेना) कहते हैं। अतः संवृत्तिवादी दृष्टि वह दृष्टि है जो संवृत्ति के द्वारा जगत की तथा अनुभव की व्याख्या करता है। संवृत्तिशास्त्र इस प्रकार का संवृत्तिवाद नहीं है। संवृत्तिशास्त्र का संवृत्ति किसी रूप में किसी प्रकार के तत्त्व या अपने में वस्तु से सम्बन्धित नहीं है।

1.3.2 संवृत्तिशास्त्र का अर्थ :

वस्तुतः व्यामिश्र के उत्पन्न होने के कारण फेनोमेना शब्द का सरलार्थ है। ग्रीक शब्द Phainomenos का अर्थ प्रतीत (appearance) भी है, तथा Logos शब्द से भी अनेक अर्थ सूचित होते हैं। इसका अर्थ शब्द भी है शाब्दत्व भी तथा बौद्धिक अन्वेषण भी। अर्थात 'फेनामेना' से ऐसे बौद्धिक भाव अथवा सार तत्त्व सूचित होते हैं जो प्रतीति हैं। संवृत्तिवाद अब यह सोचकर अग्रसर होता है कि प्रतीति तो किसी की प्रतीति है। अतः उनके अनुसार 'फेनोमेना' तत्त्व का प्रतीत रूप है। यह ठीक है कि कुछ संवृत्तिवादी विचारक ऐसे किसी तत्त्व का निरसन कर देते हैं, उसे नहीं स्वीकारते। किंतु उन्हें अस्वीकारने का आधार मात्र यही है कि ऐसे किसी तत्त्व या 'अपने में वस्तु' को जानने या स्वीकारने का आधार उनके पास नहीं है। इतना तो है ही कि वे ऐसे किसी तत्त्व के विचार से अपने को मुक्त नहीं कर पाते, उसे स्वीकारने के प्रयत्न में भी इस धारणा से ग्रसित रहते ही हैं कि फेनोमेना (संवृत्ति) किसी की प्रतीति है, उसे जाने या ना जाने।

संवृत्तिशास्त्र भी प्रतीति का बौद्धिक अन्वेषण है, किन्तु यहाँ 'प्रतीति' शब्द के दूसरे अर्थ को केन्द्रीय बनाया गया है। जो प्रतीत होता है वह 'प्रतीति' है, अर्थात जो अनुभव में आद्य रूप में ग्राह्य होता है वह प्रतीति है। इसके आद्य रूप में मात्र प्रदत्तता है। वह प्रतीति कैसे हुई, वह किसकी प्रतीति है, यह सब बाद के विचार हैं। जो अनुभव में साक्षात ढंग से– आद्य रूप में प्रदत्त होता है, वह इन सभी वैचारिक स्तरों से पहले की अवस्था है। संवृत्तिशास्त्र का संवृत्ति वह आद्यरूप में प्रदत्त भाव है, तथा संवृत्तिशास्त्र उसी संवृत्ति का बौद्धिक अन्वेषण करना है। उसी कारण वह संवृत्तिशास्त्र है।

इस आद्यरूप में प्रदत्त भाव का अन्वेषण किस प्रकार होगा? क्या इस प्रकार के

प्रभाव का अन्वेषण वस्तुनिष्ठ ढंग से ही हो सकता है? क्या इसका अध्ययन मनोवैज्ञानिक तरीके पर करना है? यह भाव तो चेतना को प्रदत्त होता है, तो यह चेतना में संरचित कैसे होता है? संवृत्तिशास्त्र इन सभी संभव 'संशयों का निराकरण' कर लेता है। उसका कहना है कि यह अन्वेषण मनोवैज्ञानिक ढंग से नहीं हो सकता। वह यह स्पष्ट करता है कि ये भाव चेतना में संरक्षित नहीं होते, 'चेतना में प्रकट होते हैं', चेतना उन्हें पकड़ती है।

अतः संवृत्तिशास्त्र का कहना है कि इस आद्य–भाव के अन्वेषण के लिए चेतना पर ही ध्यान केंद्रित करना है, क्योंकि चेतना में ही यह भाव स्पष्ट होंगे। इस प्रकार संवृत्तिशास्त्र के अध्ययन की विषयवस्तु चेतना है– चेतना के विश्लेषण के द्वारा इन आद्य प्रदत्त भावों को पकड़ने की चेष्टा संवृत्तिशास्त्र (फेनोलॉजी) है। इसी कारण इसका दावा है कि इस प्रकार पहली बार, इस रूप में चेतना दार्शनिक अध्ययन का केन्द्र बनी।

इसका यह अर्थ नहीं है कि संवृत्तिशास्त्र के अनुसार चेतना का अध्ययन सर्वथा उपेक्षित रहा है। ऐसा संवृत्तिशास्त्र नहीं कहता। यह स्वीकारता है कि दर्शन की परम्परा 'चेतना' के अध्ययन को महत्व तो देती रही है, किन्तु उनका अध्ययन कुछ दोषग्रस्त भावों पर आधारित रहा है। पहले तो किसी न किसी रूप में चेतना को एक तत्त्व या द्रव्य के रूप में कल्पित किया जाता रहा है। भौतिक तथा मानसिक तत्त्वों के द्वैत से दर्शन की परम्परा अपने को मुक्त नहीं कर पाई। इसके फलस्वरूप चेतना का हर प्रकार का अध्ययन–विश्लेषण इसे भौतिक जगत की पृष्ठभूमि में बिठा कर होता रहा। हाल में अतिवैज्ञानिकता के प्रभाव में चेतना की वैज्ञानिक एवं व्यवहारवादी व्याख्या प्रस्तुत की गई जिसमें 'चेतना' को प्रायः लुप्त ही कर दिया गया क्योंकि वहाँ मात्र यही प्रयत्न होता रहा कि कैसे चेतना–संबंधी कथनों को व्यवहार–संबंधी कथनों में रूपांतरित कर दिया जाए। कुछ मनोवैज्ञानिक तो चेतना की परिमाण मूलक व्याख्या भी प्रस्तुत करने लगे।

संवृत्तिशास्त्र इस प्रकार से चेतना के अध्ययन का समर्थक नहीं है, बल्कि, उसका तो कहना है कि इसी प्रकार के अध्ययन के कारण दोनों प्रकार की व्याख्याएं चेतन–संबंधी कुछ तथ्यों की व्याख्या में पूर्णतया और असमर्थ है।

अतः संवृत्तिशास्त्र के अनुसार 'चेतना' का जो अध्ययन हुआ है, वास्तविक अर्थ में चेतना का अध्ययन ही नहीं है। दर्शन की परम्रा तो 'चेतना' की विशिष्टता को पकड़ ही नहीं पाई, उसे भौतिक वस्तु के आलोक में समझने की चेष्टा करती रही और अति वैज्ञानिकता के प्रभाव में विकसित दृष्टि भी चेतना को परिमाणमूलक बनाने की चेष्टा करती रही।

यदि हम 'चेतना' के विशिष्ट रूप का अध्ययन करें, तो इन सभी विसंगतियों से मुक्ति मिल जायेगी। बात यह है कि इन सभी विचारकों के द्वारा 'चेतना' को एक आत्मनिष्ठ अथवा विषय परक तत्त्व समझा जाता रहा है, और उन्हें कठिनाई यह होती है

कि आत्मनिष्ठ तत्त्व का विषय में अध्ययन कैसे हो– यह नहीं समझ पाते। संवृत्तिशास्त्र यह स्वीकारता है कि उसका लक्ष्य पूर्ण वस्तुनिष्ठता का आधार ढूढ़ना है, तथा इस आधार को आत्मनिष्ठ चेतना के विश्लेषण के द्वारा ढूंढने का प्रयत्न करता है। संवृत्तिशास्त्र की विशिष्टता यह है कि इन दोनों में कोई विरोध दिखाई नहीं देता, बल्कि वह तो इसके लिए एक निश्चित विधि दे देता है। वैसे तो इन सभी बातों का अवबोध हुसर्ल के विचारों की विवेचना के बाद ही होगा, किन्तु एक स्पष्टीकरण कर लेना यह वांछनीय है।

संवृत्तिशास्त्र के अध्ययन का विषय है 'चेतना', उसका लक्ष्य है 'चेतना में आद्य रूप में प्रदत्त भावों को पकड़ना'। वह इस प्रकार आत्मनिष्ठ चेतना के विश्लेषण के द्वारा वस्तुनिष्ठ, आद्य रूप में प्रदत्त भावों को पकड़ने की चेष्टा करता है। वह ऐसा इस कारण कर पाता है क्योंकि उसने चेतना के विशिष्ट स्वरूप पर ही अपने विचार को स्थित किया है। 'चेतना' कोई तत्त्व नहीं है यह एक दिशा है। इसके दो पहलू हैं– यह कुछ ग्रहण करता है, तथा यह विषयोन्मुख है। हम आगे देखेंगे कि हुसर्ल पर, बल्कि उस अर्थ में संवृत्तिशास्त्र पर ही ब्रेन्टानों के 'चेतना की विषयापेक्षी सिद्धांत' का प्रभाव है। इस सिद्धांत के अनुसार चेतना को अनिवार्यतः किसी विषय की अपेक्षा होती है। चेतना की विषयोन्मुखता में ही उस विषय को पकड़ा जा सकता है। 'विषय' को पकड़ने के लिए चेतना से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। यदि चेतना के आद्य रूप का विश्लेषण हो तो उसी चेतना में उसका विषय स्पष्ट हो जाएगा। वह विषय पूर्णतया वस्तुनिष्ठ होगा, क्योंकि किसी प्रकार की विकृति अभी उस पर अपना रंग नहीं चढ़ा पाई है, वह विषय का वह रूप होता है जो आद्य अनुभूति में प्रदत्त हुआ है, तथा अपनी विषयनिष्ठता को तनिक भी खो नहीं पाया है। इस प्रकार से चेतना के विश्लेषण से वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति हो सकती है, तथा संवृत्तिशास्त्र इसी हेतु अपने संवृत्तिशास्त्र की विधि का आविष्कार करता है।

हुसर्ल ने भी यही किया है। बल्कि उपयुक्त यह कहना होगा कि इस प्रकार 'संवृत्तिशास्त्र दृष्टि' को स्पष्ट कर एक निश्चित रूप देने वाले हुसर्ल ही हैं। अतः पुनः यह कह देना आवश्यक है कि संवृत्तिशास्त्र के स्वरूप की समझ हुसर्ल के विचारों के विवेचन के बाद ही स्पष्ट होगी। तब यह प्रारंभिक जानकारी उस समझ में सहायक हो सकती है।

इस स्थल पर केवल एक बात और समझनी है कि यदि हम यह विचार करें कि कैसे हुसर्ल या अन्य विचाराकों की इस प्रकार की दृष्टि सार्थक प्रतीत हुयी, तो हमें इसकी सार्थकता का आधार अपने साधारण जीवन में उपलब्ध हो जाएगा। यदि हम विचार करें तो देखेंगे कि जब भी हम किसी नई बात को समझते हैं, या उसका अर्थ–निरूपण करते हैं, तो सदा हम वह जैसा हमें प्रतीत होता है, या जैसा हमें दिखाई

देता है उसी रूप में उसका अर्थ निरूपण करते हैं। यदि कोई अन्य किसी बात की व्याख्या करता है, तथा किसी भाग को स्पष्ट करता है, तो हमारे अवबोध का आधार उन बातों की हमारी प्रतीति है। किसी लेखक ने कभी एक टिप्पणी की थी कि वस्तुतः सबसे बड़ा ज्ञानी विद्वान व्यक्ति स्वयं होता है, क्योंकि अन्य की विद्वता की सार्थकता भी इसी बात पर निर्भर है कि वह उसे कैसे प्रतीत होते हैं, उनकी विद्वता उन्हें किस रूप में प्रतीत होती है। अर्थ–निरूपण का यही सामान्य ढंग है, शायद इसका अपवाद भी नहीं है। संवृत्तिशास्त्र के विचारकों को इस बात में महत्वपूर्ण तथ्य दिखाई दिया। इसी आधार पर उन्होंने सोचा कि वैयक्तिक चेतना में ही अर्थनिरूपण का आधार ढूँढ़ा जा सकता है। यदि उसका आद्यरूप पकड़ में आ जाए तो वह तो हर प्रकार के अर्थ निरूपण का आधार होगा। अतः उन्होंने इस कार्य के लिए एक निश्चित विधि को ढूँढ़ने की चेष्टा की। यही कारण है कि उनके अनुसार इस विधि से जो आद्य–रूप में प्रदत्त भाव स्पष्ट होता है, वह अंततः एक अर्थ ही है, हम देखेंगे कि संवृत्ति का वह रूप जो इस विधि के प्रयोग के फलस्वरूप स्पष्ट होता है, वह इस दृष्टि से अर्थ ही है। अतः इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि चेतना के संवृत्तिशास्त्रीय अन्वेषण से जो प्राप्त होता है वह अर्थ ही है। संवृत्तिशास्त्र एक प्रकार से मूल अर्थों की खोज है।

इन बातों को पूरी तरह स्पष्ट करने के लिए अब हम हुसर्ल के विचारों का विवेचन करेंगे

1.3.3 हुसर्ल के विचारों की भूमिका

हुसर्ल अपने प्रारंभिक शिक्षण काल में ही नक्षत्र–शास्त्र तथा गणित में रुचि लेते थे। लिपजिंग विश्वविद्यालय में भी उनके अध्ययन का विषय गणित एवं विज्ञान था। किन्तु वहां वे उस समय के प्रसिद्ध मनोविज्ञान शास्त्री बूण्ड की कक्षा में भी जाते थे, तथा उस संपर्क से उनका परिचय मनोविज्ञान से भी हो गया। जब बाद में वे बर्लिन अध्ययन हेतु गये, तो वहां भी उनका विषय गणित ही था किन्तु वहाँ उनकी अभिरुचि तर्कशास्त्र एवं दर्शन के प्रति बढ़ी।

बाद में वे पुनः वियना वापस लौट गए तथा वहाँ वे उस समय के प्रमुख चिन्तक ब्रेन्टानों के सम्पर्क में आये। इन विभिन्न प्रकार की जानकारियों का स्पष्ट प्रभाव उनके दर्शन पर पड़ा।

किन्तु उनके साथ–साथ कुछ अन्य विशिष्ठ प्रभाव हैं जिनकी स्पष्ट छाप उनकी संवृत्तिशास्त्र पर है। बल्कि, यह कहा जाता है कि उनके चिंतन काल के प्रथम चरण में उनका संवृत्तिशास्त्र पूर्णतया विकसित नहीं हुआ था। 1900–1901 में उनका लॉजिकल इन्वेस्टिगेशन्स प्रकाशित हुआ था, इसमें उनकी संवृत्तिशास्त्र की अवधारणा विकसित नहीं हुई थी। प्रथम स्तर में गणित दर्शन पर कार्य करते रहे, तथा गणित के क्षेत्र में भी एक 'गेस्टाल्ट' की खोज करने की चेष्टा में रहे। इस स्तर में वे मनोविज्ञान के प्रभाव से उबर

नहीं पाए थे। इस स्तर में वस्तुतः उनकी संवृत्तिशास्त्र विवरणात्मक संवृत्तिशास्त्र है, तथा यहाँ वे चेतना के विषयापेक्षी सिद्धांत के आधार पर गणित तथा तर्कशास्त्र की मूल अवधारणाओं का विश्लेषण करते रहे।

किन्तु उनकी संवृत्तिशास्त्र का वास्तविक रूप उनके बाद के ग्रंथों (आईडियाज, कार्टेजियन मेडिटेशन आदि) में स्पष्ट होता है। इसे समझने के लिए हमें उन प्रभावों से परिचित होना पड़ेगा जिनका इस विचार के उभरने में योगदान है।

एक प्रभाव तो ब्रेन्टानों के विषयापेक्षी सिद्धांत का है इस प्रभाव से हुसर्ल कभी मुक्त नहीं हुए। इस सिद्धांत के अनुसार चेतना एक दिशा है 'सर्वथा विषयोन्मुख है'। अर्थात चेतना को विषय की अपेक्षा होती है 'चेतना रिक्त नहीं होती' विषयहीन नहीं होती। चेतना को जानने का अर्थ है इसकी विषयापेक्षा को जानना, इसकी विषयोन्मुखता को जानना। हम देखेंगे कि इसी सिद्धांत के प्रभाव में हुसर्ल को चेतना के विश्लेषण में प्रदत्त विषय को ढूँढ़ लेने का एक आधार मिल जाता है। इसी सिद्धांत के आलोक में वे चेतना के आत्मनिष्ठ रूप तथा उसकी विषयनिष्ठता का विरोध समाप्त कर पाते हैं, क्योंकि उन्हें अब यह स्पष्ट हो जाता है कि चेतना का कार्य विषय को अर्जित करना नहीं है– जैसा कि कांट ने सोचा था। विषय तथा चेतना के द्वैत के कारण ही यह प्रश्न उठ जाता है कि चेतना को विषय किस प्रकार प्रदत्त होते हैं अथवा किस प्रकार चेतना के द्वारा विषय संरचित होते हैं। यदि चेतना एक गति है, तथा अनिवार्यतः इसे विषयापेक्षा रहती है, तो चेतना अपने में ही, अपने से ही विषय को व्यक्त कर सकती है, स्पष्ट कर सकती है। इस प्रकार हुसर्ल के लिए यह सिद्धांत बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है।

हुसर्ल के विचारों पर एक प्राथमिक प्रभाव ग्रीक वैचारिक दृष्टि की भी है। हुसर्ल ने कहा भी है कि उनका संवृत्तिशास्त्र का दर्शन वस्तुतः वही कर रहा है जो दर्शन की परम्परा प्रारंभ से करती आ रही है– जिस लक्ष्य को प्लेटो जैसे दार्शनिकों ने स्थापित किया था। प्लेटो ने कहा था कि दर्शन का प्रारम्भ 'आश्चर्य' में है। इसका अर्थ मात्र इतना ही है कि कुछ अनुभूतियों से जो अन्तर में विस्मय का उद्‌भव होता है, उसी के निदान के प्रयत्न में मनुष्य जीवन, आत्म, जगत के अर्थ निरूपण में रत हो जाता है, और यही दर्शन का प्रारंभ है। इसका अर्थ है कि ग्रीक दार्शनिकों के लिए 'दार्शनिक जिज्ञासा' का लक्ष्य कोई निश्चित कार्य सिद्ध नहीं है किसी उपयोगिता के लक्ष्य से यह अग्रसर नहीं होता। इसका लक्ष्य शुद्ध सैद्धांतिक है, इसी कारण इसके निष्कर्षों में व्यापकता है। यदि यह किसी विशेष उपयोगी प्रयोजन के हेतु अग्रसर होता, तो उसकी सार्थकता वहीं तक सीमित हो जाती। शुद्ध सैद्धांतिकता दर्शन की व्यापकता, उसकी सार्वभौमता का आधार है। हुसर्ल ने ग्रीक दृष्टि के इन मूल भावों को समझा है, तथा इसी प्रभाव में उन्होंने भी अपने संवृत्तिशास्त्र को शुद्ध सैद्धांतिक अन्वेषण का रूप दिया।

हुसर्ल के समय एक दूसरी समस्या थी विधि की खोज की। वे इस बात से अवगत

थे कि जिस प्रकार के सैद्धान्तिक अन्वेषण की अनुशंसा कर रहे हैं, उसके लिए एक विशिष्ट विधि का आविष्कार अनिवार्य है। इस स्थल पर वे डेकार्ट के ऋणी हैं। इस ऋण को उन्होंने स्वीकारा भी है। हम देखेंगे अपनी विधि की व्याख्या में हुसर्ल डेकार्ट का उल्लेख कर, उनकी विधि का सहारा लेकर अग्रसर होते हैं।

इन भावात्मक प्रभावों के अतिरिक्त परोक्ष रूप में, या निषेधात्मक रूप में उनके विचारों पर कांट के दर्शन का तथा बुद्धिवादी परम्परा के विचारों का भी प्रभाव है। अनुभव–अनुभूति को तो उन्होंने भी केंद्रीय बनाया है, किंतु यह पारंपरिक अनुभववाद के समान नही। इस कारण बुद्धिवाद के विरुद्ध उनकी वैसी आपत्ति नहीं है जैसी आपत्ति अनुभववाद में उठाई गई है। उनकी आपत्ति मूलतः यही है कि बुद्धिवाद में दार्शनिक चिंतन के सैद्धान्तिक पक्ष की उपेक्षा हुई है। इससे भी उन्हें अपने विचार की संरचना के लिए कुछ सामग्री मिल जाती है।

यह तो हुई 'प्रभावों' की बात इस स्थल पर एक अन्य बात पर प्रकाश देना अनिवार्य है, क्योंकि वह एक प्रकार से हुसर्ल के लिए तत्कालीन प्रेरणा का स्रोत बन गया है। वह है 'उस समय की प्रचलित वैचारिक स्थिति'।

हुसर्ल को उस समय यूरोप में एक आपातस्थित दिखाई दी। यह आपातस्थिति उनकी संस्कृति में प्रवेश किया हुआ प्रतीत हुआ। उन्हें जीवन का आधार नहीं मिल रहा था, उनके लिए जीवन की अर्थपूर्णता ही समाप्त हो सी गई थी। उनका जीवन 'संशय' का जीवन हो गया, कोई लक्ष्य, कोई मूल्य उन्हें बांध नहीं पा रहा था। पूर्ण-सापेक्षतावाद तथा अर्थहीन-संशयवाद उनके जीवन में प्रवेश कर गया था।

हुसर्ल को प्रतीत हुआ कि इस सांस्कृतिक एवं अस्तित्वमूलक आपातस्थिति का कारण एक वैचारिक आपातस्थिति थी। उन्होंने ऐतिहासिक विवेचन के आधार पर यह दिखाया कि कैसे इस वैचारिक आपातस्थित का उद्‌भव हुआ। अतिवैज्ञानिकता तथा वैज्ञानिक-भाववाद का योगदान इस प्रकार की वैचारिक आपातस्थिति स्पष्ट ही है। संशयवाद तथा सापेक्षतावाद इसकी देन है। एक प्रकार से कांट, हेगल, तथा बुद्धिवादी परंपरा के विचार भी परोक्ष रूप से इस आपात स्थित को लाने में सहायक सिद्ध हैं। विचार यदि अपने आद्य रूप से विमुख हो जाए तो यह विचार का उन्मूलन है। पाश्चात्य दर्शन की परंपरा ने पाश्चात्य दर्शन को ही अपने जड़ से अलग कर दिया, इसके स्वाभाविक एवं वास्तविक उद्देश्यों की सिद्धि के स्थान पर इन माँगों ने भी विचार में कृत्रिमता भर दी। हुसर्ल के अनुसार यह वैचारिक आपातस्थिति ही वर्तमान यूरोपीय अस्तित्वमूलक आपातस्थिति का कारण है। अतः इस आपातस्थिति से मुक्ति पाने के लिए विचार को पुनः अपने मूल स्थान पर स्थापित करना अनिवार्य है।

अतः हुसर्ल को एक अन्य कॉपरनिकसन वैचारिक क्रांति की आवश्यकता प्रतीत हुई। उस वैचारिक क्रांति का मूल लक्ष्य बस इतना ही है कि जो उपेक्षित रहा है उसे नए

परिवेश में पुनः प्रतिष्ठित किया जाय। क्या उपेक्षित रहा है? हुसर्ल का कहना है कि उपेक्षित रही है वह मूल दार्शनिक दृष्टि जिसे ग्रीक मानस ने समझा था। वह एक सैद्धान्तिक अन्वेषण की दृष्टि थी। वहाँ एक सैद्धान्तिक खोज की उत्कंठा थी, जानने की अवबोध की आकाँक्षा थी, और एक आस्था थी, विश्वास था, निश्चयता में। उन्हें यह आस्था थी कि इस सैद्धान्तिक अन्वेषण से निश्चित की उपलब्धि होगी। उन्हें यह विश्वास था कि संशयवादी एवं सापेक्षवादी प्रवृत्तियों से ऊपर उठकर की निश्चयता की प्राप्ति की जा सकती है। तो हुसर्ल ने भी विचार किया कि नए परिवेश में उस पुरानी दृष्टि को पुनः प्रतिष्ठित करें, वे पुनः एक ऐसा सैद्धान्तिक अन्वेषण प्रारम्भ करें जो स्वतःसिद्ध निश्चयता की स्थापना कर सके। उन्हें विश्वास है कि इस सैद्धान्तिक खोज से सभी प्रकार के विचार, ज्ञान, विज्ञान को पुनः एक निश्चित एवं स्वतःसिद्ध आधार मिल जाएगा। हुसर्ल के लिए उनका संवृत्तिशास्त्र इस प्रकार की वैचारिक क्रांति ही है।

1.3.4 हुसर्ल के संवृत्तिशास्त्र का सामान्य स्वरूप एवं लक्ष्य

एक प्रकार से हुसर्ल के संवृत्तिशास्त्र की मूल प्रेरणा का उल्लेख हो चुका है। ग्रीक दार्शनिकों के अनुसार उन्हें भी यह विश्वास था कि दार्शनिक खोज एक सैद्धांतिक खोज है, जिससे निश्चयता की प्राप्ति हो सकती है। वे यह स्वीकारते हैं कि इस प्रकार की वस्तुनिष्ठ निश्चयता की खोज 'चेतना' के विश्लेषण के द्वारा चेतना में ही की जा सकती है। इस प्रकार उनका लक्ष्य दर्शन को एक ऐसा स्वतंत्र वैचारिक ढंग के रूप में प्रतिष्ठित करना है, जिससे वह सभी ज्ञान विज्ञान के अन्तिम आधार के रूप में उभरे। उनका लक्ष्य है चेतना के दार्शनिक विश्लेषण के आधार पर ऐसे 'स्वतःसिद्ध, वस्तुनिष्ठ सारभाव' को ढूँढ़ लें जो हर प्रकार के ज्ञान-विज्ञान का आधार हो।

इस प्रकार हम देखेंगे कि को हुसर्ल के अनुसार जगत अथवा जगत के अनुभव की समस्यात्मकता उस प्रकार की नहीं है जिस प्रकार का हाल के पाश्चात्य दार्शनिक समझते रहे हैं। यह मात्र प्रकृति की प्रकृतिवादी व्यवस्था की समस्या नहीं है, यह भौतिक तथा अभौतिक के समन्वय तथा उनकी सम्मिलित व्याख्या का प्रश्न नहीं है। हमें इन समस्याओं के प्रति अपने दृष्टिकोण को बदलना अनिवार्य है। इन सभी प्रकार के ढंगों में कुछ न कुछ पहले से माना हुआ होता है। कुछ नहीं तो इन व्याख्याओं को प्रस्तुत करने में इतना तो हम पहले से माने हुए रहते हैं कि 'कुछ भौतिक वस्तुएँ हैं तथा कुछ व्यक्ति हैं'। हुसर्ल इन सभी के अनुभवों का निषेध नहीं कर रहे, उनका कहना है कि हमारी सभी व्याख्यायें इन अनुभवों में भी कुछ पहले से स्वीकार कर चुकी होती है। इस दृष्टि को छोड़ना उनके अनुसार अनिवार्य है। तो उनके अनुसार 'यदि अनुभव या अनुभूति मूल है', तो सारी व्याख्याओं का आधार इसी में उपलब्ध होगा, इससे बाहर होकर कुछ पहले से मान लेना चिन्तन को ही विकृत कर देगा। अतः हुसर्ल की मूल दृष्टि है कि हम यह देखें कि अनुभव में क्या प्रदत्त हुआ है, वह भी इस अभिप्राय से कि हम यह जान पाए कि

अनुभव की आद्य प्रदत्तता क्या है। बात यह है कि अनुभव जिस रूप में सामान्यतः प्राप्त होता है, उसमें मानसिक स्थितियों के प्रभाव तथा अन्य विकार पहले से जुड़े हुए होते हैं। वे सब अनुभव के आद्य प्रदत्त रूप में नहीं आते, बल्कि अलग से उन में जुड़ गए हैं। अतः उनका लक्ष्य है इन सभी विकारों से मुक्त अपने शुद्ध प्रदत्त रूप में अनुभव को जान पाये। आद्य रूप में शुद्ध-प्रदत्त अनुभव होने के कारण ऐसा भाव होगा जो पूर्णतया वस्तुनिष्ठ तथा स्वतःसिद्ध होगा, और तब ऐसे भावों के आधार पर ज्ञान-विज्ञान की संरचनाएँ भी सार्थक होंगी। इन बातों की पूर्ण समझ तो संवृत्तिशास्त्र के पूर्ण विवरण– मूलतः हुसर्ल की विधि की विवेचना के बाद ही होंगी, किन्तु हम यहाँ हुसर्ल के मूल तत्त्व का कुछ और स्पष्टीकरण कर सकते हैं।

इस के संदर्भ में एक बात स्मरण रखनी है। हुसर्ल के वैचारिक विकास में जो 'स्तर' दिखाई देते हैं, उनके क्रमिक विवेचन से हुसर्ल का लक्ष्य स्पष्ट नहीं होता, बल्कि बाद की कुछ रचनाओं के आधार पर उनके कुछ प्रारंभिक विचारों को भी स्पष्ट किया जा सकता है।

फिर भी उनके सभी लेखों में एक मूल दृष्टि है– वह सदा ही मूल आधार की बात करते रहे। उन्होंने प्रारंभ में गणित के मूल आधार का प्रश्न उठाया तथा उस संदर्भ में वे तर्कशास्त्रीय मीमांसा में उलझे। तर्कशास्त्र से वे सामान्य ज्ञानमीमांसा के मूल आधारों के प्रश्न पर पहुँच गए, तथा उसी संदर्भ में विज्ञान एवं दर्शन के मूल आधारों का प्रश्न उठा दिया। अपनी पुस्तक 'कार्टेज़ियन मेडिटेशन' में वे विज्ञान के मूल आधार को स्थापित करने के लिए विकल प्रतीत होते हैं।

इस संदर्भ में उन्होंने विज्ञान के संबंध में एक बड़े महत्वपूर्ण तथ्य पर प्रकाश दिया– जो उनके दार्शनिक चिंतन का मूल आधार बन गया। उन्होंने कहा कि विज्ञान की वैज्ञानिकता उसकी निश्चयता अथवा अनिवार्यता अथवा सार्वभौमता से निर्धारित नहीं होती, क्योंकि वैज्ञानिक निष्कर्ष तो प्रायः सदा ही तात्कालिक एवं सामयिक होते हैं, उनमें पूर्ण निश्चयता नहीं होती– उनके प्रमुख निष्कर्षों के सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि उनमें निश्चियता की मात्रा अत्यधिक है। अतः विज्ञान की वैज्ञानिकता का आधार निश्चियता नहीं है– बल्कि 'पूर्ण वस्तुनिष्ठता' है। वैज्ञानिकता की पहचान उनकी इसी वस्तुनिष्ठता से होती है, विज्ञान का लक्ष्य 'पूर्णतया वस्तुनिष्ठ अन्वेषण' है और यह विधि है चेतना में, चेतना के माध्यम से उस वस्तुनिष्ठ सारभाव को पकड़ने की विधि। इसके द्वारा हुसर्ल चेतना का विश्लेषण करते हैं। किन्तु उनका यह संवृत्तिशास्त्रीय विश्लेषण– मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा तार्किक विश्लेषण दोनों से भिन्न है।

मनोवैज्ञानिक चेतना को एक मनःस्थिति मान कर उसका अध्ययन करता है। वस्तुनिष्ठता की पहचान तो विज्ञान के मूल आधार को ढूँढने में इस केंद्रीय तथ्य पर ध्यान रखना अनिवार्य है, अतः वह उस स्थिति की कल्पना करता है जब चेतना होती है,

तथा यह देखता है कि उस स्थिति में मन में या शरीर में क्या होता रहता है। हुसर्ल इस प्रकार का विश्लेषण नहीं करते। पुनः तार्किक विश्लेषण में भी हम चेतना–संबंधी सत्य असत्य निर्णयों का विश्लेषण करते हैं। हुसर्ल ऐसा भी नहीं करते। उनका संवृत्तिशास्त्रीय विश्लेषण कुछ अर्थों में गणितीय विश्लेषण के समान शुद्ध सैद्धांतिक विश्लेषण है, जो अपने विश्लेषण में तथ्यों का हवाला देकर विश्लेषण नहीं करता–बल्कि शुद्ध वैचारिक स्तर पर चेतना के भाव का सैद्धांतिक विश्लेषण करता है। वस्तुतः इस विश्लेषण में वह जानना चाहता है कि जब हमें चेतना होती है, तो किस प्रकार का अर्थबोध होता है। उस समय हुसर्ल के अनुसार हम पहले से ना किसी वस्तु को स्वीकारते हैं, ना यही सोचते हैं कि चेतन आत्मा क्या है। इन सभी विश्वासों से हम अस्थाई रूप में अपने को असंबंधित कर मात्र यह जानना चाहते हैं कि कौन सा भाव अर्थवान हुआ है। इस भाव को न तो किसी मानसिक स्थिति के रूप में समझना है ना किसी मनोवैज्ञानिक तत्व के रूप में, बल्कि चेतना के 'अभिप्रेत विषय' मात्र के रूप में पकड़ने की चेष्टा करना है। अर्थात यह देखना है कि अपने मूलरूप में चेतना किस विषय की ओर उन्मुख है। इस प्रकार हुसर्ल के संवृत्तिशास्त्र का विश्लेषण एक विशिष्ट प्रकार का है, जिसका वे पूर्ण चित्रण अपनी संवृत्तिशास्त्रीय विधि में करते हैं।

1.4 सारांश

सर्वप्रथम हुसर्ल और उनके अनुयायियों ने संवृत्तिशास्त्र शब्द का प्रयोग एक संपूर्ण दार्शनिक विधि के लिए किया। संवृत्तिशास्त्र के अध्ययन का विषय है चेतना और उसका लक्ष्य। चेतना में आद्य प्रदत्त मूल भाव को पकड़ना। हुसर्ल आत्मनिष्ठ चेतना के विश्लेषण द्वारा ऐसे स्वतः सिद्ध वस्तुनिष्ठ सार भाव को ढूँढना चाहते हैं जो प्रत्येक प्रकार के ज्ञान का आधार हो। उनकी रुचि तत्त्वमीमांसा में ना होकर ज्ञानमीमांसा में है, उनका उद्देश्य चेतना के विकास की नहीं बल्कि चेतना में प्रयुक्त प्रदत्तों की खोज करना है। उनके अनुसार वास्तविक वस्तु वह है जिसकी प्राप्ति शुद्ध चेतना में होती है।

1.5 शब्दार्थ सूची

स्वतःसिद्ध	जिसके सिद्धि हेतु प्रमाण अपेक्षित ना हो
विषयापेक्षा	विषय की अपेक्षा रखने वाला
आद्य	प्रारम्भिक
अन्वेषण	खोजना
भावात्मक	स्वीकार्य
आपात	एकाएक
प्रदत्त	दिया हुआ
मूल आधार	नींव

1.6 संदर्भ एवं उपयोगी पुस्तक

1. हुसर्ल : लॉजिकल इन्वेस्टिगेशन
2. हुसर्ल : आइडियाज, कार्टेजियन मेडीटेशन्स
3. हुसर्ल : आइडिया ऑफ फेनामेनालॉजी
4. हुसर्ल : फार्मल एण्ड ट्रासिडेन्टल लॉजिक
5. हेगेल : फेनोमेनलॉजी ऑफ स्पिरिट
6. प्रो0 बी के लालः समकालीन पाश्चात्य दर्शन
7. प्रो0 लक्ष्मी सक्सेनाः समकालीन पाश्चात्य दर्शन

1.7 सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय :

1. संवृत्तिशास्त्र का उद्‌भव कब और किसके द्वारा हुआ?
2. संवृत्तिशास्त्र एवं संवृत्तिवाद में अन्तर बतायें?
3. संवृत्तिशास्त्र के अध्ययन की विषयवस्तु क्या है?
4. संवृत्तिशास्त्र का लक्ष्य क्या है?
5. हुसर्ल के विचारों पर किन विचारकों का प्रभाव पड़ा?
6. हुसर्ल किस तत्त्व का विश्लेषण करते हैं?

दीर्घ उत्तरीय :

1. संवृत्तिशास्त्र के उद्‌भव एवं विकास का संक्षिप्त परिचय दें?
2. संवृत्तिशास्त्र क्या है?
3. चेतना की विषयापेक्षा से हुसर्ल का क्या आशय है?
4. हुसर्ल की संवृत्तिशास्त्र के सामान्य स्वरूप एवं लक्ष्य का विवेचन कीजिए।

इकाई – 2 प्रकृतिवादी एवं मनोविज्ञान विचारों की आलोचना

इकाई की रूपरेखा

2.1 उद्देश्य

2.2 प्रस्तावना

2.3 पाठ-प्रस्तुतीकरण

2.3.1 विषय प्रवेश

2.3.2 मनोवैज्ञानिकता की आलोचना

2.3.3 प्रकृतिवादी दृष्टि का खण्डन

2.4 सारांश

2.5 शब्दार्थ-सूची

2.6 संदर्भ एवं उपयोगी पुस्तक

2.7 सम्बन्धित प्रश्न

2.1 उद्देश्य

इस खण्ड का अध्ययन करने के पश्चात आप निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति करने में सक्षम होंगे :

- हुसर्ल द्वारा मनोवैज्ञानिकता की आलोचना को जानने में।
- हुसर्ल द्वारा प्रकृतिवादी दृष्टि की आलोचना को जानने में।

2.2 प्रस्तावना

संवृत्तिशास्त्र के स्वरूप का वर्णन हुसर्ल की पुस्तक (आइडिया और कॉर्टेजियन मेडिटेशन) में मिलता है। इसमें हुसर्ल चेतना के मूल प्रदत्त अनुभवों को पकड़ने के लिए एक विधि देते हैं जिसे संवृत्तिशास्त्रीय विधि कहते हैं। इसी विधि तक पहुंचने के पहले वह कुछ ऐसे विषयों की आलोचना करते हैं, जो हमारे दार्शनिक चिंतन को विकृत कर देता है। इसके लिए हुसर्ल प्रकृतिवादी और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों की आलोचना करते हैं।

2.3 पाठ.प्रस्तुतीकरण

2.3.1 विषय-प्रवेश

संवृत्तिशास्त्रीय विधि तथा संवृत्तिशास्त्र के विश्लेषण के मार्ग में हुसर्ल को एक बड़ी

कठिनाई दिखाई देती है। उनका कहना है कि हम संवृत्तिशास्त्रीय विश्लेषण का प्रयोग करने में असमर्थ प्रतीत होते हैं क्योंकि हम दो प्रकार के विश्वासों से इतने जकड़े हुए हैं कि हम उनसे अपने को मुक्त नहीं कर पाते। एक तो हमारा सामान्य साधारण 'प्रकृतिवादी विश्वास' है हम सामान्यतः कुछ बातों को माने हुए होते हैं, जैसे हम हैं, कुछ भौतिक वस्तु है, आदि। हमारे सामान्य जीवन में इस प्रकार के साधारण प्रकृतिवादी विश्वास बड़े उपयोगी हैं, अतः इनकी पकड़ इतनी कड़ी हो जाती है कि हमारे हर चिंतन में इस प्रकार का विश्वास प्रवेश कर ही जाता है। उसी प्रकार चेतना के विश्लेषण में मनोवैज्ञानिकता से भी अपने को मुक्त नहीं कर पाते। हमारी सामान्य धारणा है कि मन–चेतना आदि मनोवैज्ञानिक तथ्य है, तथा उनका विश्लेषण मनोवैज्ञानिक आधारों पर ही किया जा सकता है।

हुसर्ल का कहना है कि संवृत्तिशास्त्रीय विश्लेषण को इन दोनों प्रकार के विश्वास तथा भ्रांतिपूर्ण धारणा से मुक्त करना अनिवार्य है। अतः उनके लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वे इन दोनों धारणाओं के दोषपूर्ण रूप को प्रकट कर दें, उनके भ्रांतिपूर्ण रूप को प्रकाश में ला दें। इसी कारण वे मनोवैज्ञानिकता तथा सामान्य प्रकृतिवादी दृष्टि दोनों का खण्डन करते हैं। वस्तुतः या उनके विचार का निषेधात्मक पक्ष नहीं है, बल्कि इसी के आधार पर अपने विधि की रूपरेखा खींचते हैं। अतः यह खण्डन भी भावात्मक रूप में उनकी अनिवार्य संवृत्तिशास्त्र का अनिवार्य पहलू है। हम भी पहले ही यही देखेंगे कि इन दोनों धारणाओं के विरुद्ध हुसर्ल की आपत्तियाँ क्या हैं?

2.3.2 मनोवैज्ञानिकता की आलोचना

हमने देखा कि अपने संवृत्तिशास्त्र की स्थापना के लिए हुसर्ल सदा 'प्रकृतिवादी विश्वास' तथा 'मनोवैज्ञानिक व्याख्या विश्लेषण' से बचने की चेष्टा करते रहे हैं। अतः उनके लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वे दोनों प्रकार की व्याख्याओं तथा विश्वास का दोषपूर्ण रूप स्पष्ट करें। इसी उद्देश्य से भी दोनों का खण्डन करते हैं। सच पूछा जाए तो यह खण्डन भी उनके दर्शन का निषेधात्मक पक्ष नहीं है, क्योंकि इसी खण्डन में उन्होंने अपनी विधि के भावात्मक आधार को समझा है, तथा उसी आधार पर अपनी विधि की रूपरेखा खीची है। इस प्रकार इन दोनों का खण्डन भी उनके नाम संवृत्तिशास्त्र का भावात्मक अंश है। पहले हम देखेंगे कि उन्होंने मनोवैज्ञानिकता की आलोचना किस प्रकार की है।

उन्होंने देखा कि तात्कालिक स्थिति यह है कि मनोवैज्ञानिक व्याख्या का केवल मानसिक स्थितियों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि वह तो उन क्षेत्रों में भी अपना स्थान बना रही है जिन्हें सामान्यतः पूर्णतया वस्तुनिष्ठ अन्वेषण समझा जाता है। इन दिनों दर्शन एवं विज्ञान को भी मनोवैज्ञानिक तत्त्वों के आधार पर समझने का प्रयत्न होता है, तथा तर्कशास्त्र एवं गणित के विषयों की व्याख्या भी मनोवैज्ञानिक नियमों के आधार पर करने

की चेष्टा होती है। मनोविज्ञान की व्यापकता को हुसर्ल मनोवैज्ञानिकता कहते हैं। तथा इसी की आलोचना करते हैं, उनकी आलोचनायें तो कई स्थानों पर बिखरी हुई है, किंतु उनके मुख्य बिन्दु कुछ निम्नलिखित ढंग के हैं –

(क) उनका कहना है कि इस प्रकार की व्याख्या को महत्व दिया गया तो पूर्णतया तटस्थ एवं वस्तुनिष्ठ व्याख्या की संभावना ही समाप्त हो जाएगी। इतना ही नहीं, उसका तो यह भी अर्थ हो जाता है कि पूर्णतया वस्तुनिष्ठ भावों का होना ही संभव नहीं। मनोवैज्ञानिक व्याख्या निश्चित दृष्टि से की गई व्याख्या होती है, उसकी अनिवार्य पूर्वमान्यता है कि हर भाव वस्तुतः मनोवैज्ञानिक तथ्यों से संरचित है। तो, इस दृष्टि से, ऐसी पूर्वमान्यता पर आधारित व्याख्या अनिवार्यतः एकांगी ही होगी, वह सार्वभौम हो ही नहीं सकती तथा, इस दृष्टि से वह व्याख्या भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि वह तो किसी एक विशेष आवश्यकता की पूर्ति मात्र ही कर पाएगी उसे व्याख्यायित नहीं कर पायेगी।

(ख) हुसर्ल का कहना है कि ऊपर बताया प्रयत्न करने में मनोवैज्ञानिकता एक प्रकार से पुनरूक्ति–दोष से भी ग्रसित हो जाती है। तर्कशास्त्र एवं गणित जैसे वस्तुनिष्ठ शास्त्रों को यदि हम मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर ढालने का प्रयत्न करें, तो उस प्रयत्न में पुनरूक्ति–दोष स्पष्टतया चला आता है। इस व्याख्या की सामान्य प्रणाली यही है कि कुछ मनोवैज्ञानिक तथ्यों के आधार प्रस्तुत विषय के संबंध में कुछ अनुमान किया जाता है। किंतु ऐसी किसी व्याख्या के लिए जब अनुमान की आवश्यकता है, तो इसका अर्थ है कि ऐसी व्याख्या भी अनुमान के नियम पर आधृत है। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार की मनोवैज्ञानिक व्याख्या को भी अनुमान के नियमों को स्वीकार कर ही अग्रसर होना है। किन्तु तब तो इससे तार्किकता ही प्राथमिकता सिद्ध होती है, मनोवैज्ञानिकता नहीं।

(ग) हुसर्ल को इस मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि में निहित एक दोष दिखाई देता है। वर्तमान मनोवैज्ञानिकता आधुनिक विज्ञान से इतनी प्रभावित है कि वह मनोवैज्ञानिक को विज्ञान–मूलतः भौतिकी के ढाँचे में ढालने को आतुर है। इस आतुरता में कोई दोष नहीं है, इस आतुरता के प्रभाव में मनोविज्ञान की अपने निष्कर्षों को वस्तुनिष्ठ बनाने की इच्छा भी उपयुक्त ही है। किन्तु मनोविज्ञान अपने निष्कर्षों को वस्तुनिष्ठ बनाने के प्रयत्न में क्या करता है? वह मात्र विज्ञान–मूलतः भौतिकी की नकल करता है, उसी प्रकार प्रयोगात्मक उपकरण पाने की चेष्टा करता है, मानसिक स्थितियों को स्थूल व्यवहारों में रूपान्तरित करता है, तथा इस प्रकार मनोविज्ञान को विज्ञान बनाने का प्रयत्न करता है। हुसर्ल को इस प्रकार के प्रयत्न में दो प्रकार के दोष दिखाई देते हैं। एक तो विज्ञान की नकल करने में इतना उतावला हो जाता है कि यह भी नहीं देख पाता कि इस प्रकार की नकल मात्र से उनके निष्कर्षों में निश्चयता नहीं आ जाएगी, क्योंकि विज्ञान के ही निष्कर्ष–भौतिकी के भी पूर्णतया निश्चित नहीं होते, बल्कि उनमें तो मात्र तात्कालिकता

होती है, वे सामयिक होते हैं, उनकी वैज्ञानिकता इसी बात पर निर्भर करती है कि उपयुक्त साक्ष्यों के आधार पर उनका परिवर्तन ही नहीं, उन्हें त्यागा भी जा सकता है। मनोवैज्ञानिकता यह सब देख नहीं पाती। वह यह समझ नहीं पाती कि वस्तुनिष्ठता एवं निश्चयता का आधार विज्ञान नहीं है, बल्कि वह भी तो उसी वस्तुनिष्ठता की खोज में रहता है जिसकी खोज मनोविज्ञान को है। वस्तुनिष्ठता साक्ष्यों से प्राप्त होती है, यदि ऐसा साक्ष्य उपलब्ध हो जाए तो स्वतःसिद्धि भी हो तथा पूर्णतया वस्तुनिष्ठ भी, तो सभी ज्ञान–विज्ञान को वस्तुनिष्ठ आधार मिल जाएगा और यही संवृत्तिशास्त्र की खोज है।

विज्ञान के नकल करने की प्रक्रिया में मनोवैज्ञानिक और अन्य प्रकार के दोष से ग्रसित हो जाती है। वह सर्वथा भूल जाती है कि उसका जो अन्वेष्य विषय है वह विज्ञान के अथवा भौतिकी के अन्वेष्य विषय से सर्वथा भिन्न है। वह जीवित मनुष्य की क्रियाओं–प्रतिक्रियाओं का अन्वेषण करता है। मनुष्य उद्दीपन पर यंत्रवत प्रतिक्रिया नहीं करता, अपितु वह उद्दीपन को भी अपने ढंग से पहचान कर उसके अनुरूप प्रतिक्रिया करता है। मनौवज्ञानिक इस बात को भुला देते हैं, तथा मानव–प्रतिक्रियाओं का ऐस अध्ययन करते हैं, जैसे वे किसी खनिज पदार्थ का विश्लेषण कर रहे हों। हुसर्ल के अनुसार मनोवैज्ञानिकता की यह मूल भूल है।

(घ) कुछ ऊपर बताई बातों के अनुरूप मनोविज्ञान 'चेतना' की भी व्यवहारवादी व्याख्या प्रस्तुत करता है। संवृत्तिशास्त्र के अन्वेषण का क्षेत्र 'चेतना' ही है, अतः हुसर्ल यह स्पष्ट दिखाते हैं कि 'चेतना' की व्याख्या सर्वथा अयुक्त है। मनोवैज्ञानिक चेतना उद्दीपन, स्नायु–क्रिया, मांसपेशी की हरकतें, साहचर्य–क्रिया, आदि की व्याख्या मनोविज्ञान तथ्यों के आधार पर करने का प्रयत्न करता है। हुसर्ल पूछते हैं कि क्या इस प्रकार की व्याख्या को व्याख्या कहा जा सकता है? व्याख्या में कुछ नियम स्थापित होते हैं तथा जिसकी व्याख्या हो रही है उसे नियमों के अंतर्गत लाने का प्रयत्न होता है। किन्तु क्या मनोविज्ञान, जिन तत्त्वों के द्वारा व्याख्या प्रस्तुत करता है, उनसे चेतना सम्बन्धी कोई नियम स्थापित होता है? वस्तुतः मनोविज्ञान जिन्हें नियम मान रहा है, वे मात्र कुछ आनुभविक तथ्यों के आधार पर किए गए सामान्यीकरण हैं। वे सभी ऐसे सामान्यीकरण के समान संशय से परे हैं। यही कारण है कि इस प्रकार की हर मनोवैज्ञानिक व्याख्या पर संशय होता ही है, वे निश्चयता दे ही नहीं सकते।

(च) इसी प्रकार हुसर्ल यह भी कहते हैं कि मनोविज्ञान में जिन तत्वों को प्रमाण रूप माना जाता है, वे वस्तुतः प्रमाण हो ही नहीं सकते। सभी मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं में प्रमाण के आधार रूप में इस प्रकार के तत्वों का उल्लेख होता है– अभिरुचि, आस्था, विश्वास, भावना, भावनाओं का वेग, ईर्ष्या, द्वेष, पक्षपात, आदि। मनोवैज्ञानिक व्याख्याएँ इन्हीं के आधार पर चलती हैं। किन्तु इस प्रकार के तत्त्व को वस्तुनिष्ठ प्रमाण कैसे माना जा सकता है? वास्तविक 'प्रमाण' तो वही हो सकता है, जिसे अपने को प्रमाणित करने

के लिये अन्य के सहारे की आवश्यकता ना हो। इसी प्रकार के प्रमाणों की खोज ही तो संवृत्तिशास्त्र का लक्ष्य है।

(छ) हुसर्ल का कहना है कि मनोविज्ञान के समर्थकों को शायद यह भ्रान्ति है कि उनके मनोवैज्ञानिक तत्त्व अभिरुचि, भावना, आदि स्वतःसिद्ध तत्व हैं। हुसर्ल का कहना है कि जिस प्रकार वे अभिरुचि, भावना आदि का उल्लेख करते हैं, उस रूप में वे तो स्वतःसिद्ध हो ही नहीं सकते, क्योंकि मनोविज्ञान में वे सदा ही मनोवैज्ञानिक परिवेश में होते हैं। उनमें भी स्वतःसिद्धता के अंश को पाने के लिए उन्हें उनकी मनोवैज्ञानिकता से पूर्णतया परिष्कृत कर उनके उनके मूल-आद्य-प्रदत्त-रूप को पकड़ने की चेष्टा करनी होगी, तथा यह मनोवैज्ञानिकता का नहीं, संवृत्तिशास्त्र का लक्ष्य है।

2.3.3 प्रकृतिवादी दृष्टि का खण्डन

प्रकृतिवादी दृष्टि क्या है? हुसर्ल का कहना है कि यह एक ऐसी सामान्य दृष्टि है जो प्रायः सभी मनुष्यों की दृष्टि ही है। इस दृष्टि के आधार से यह विश्वास है कि एक तथ्यात्मक जगत है जिसमें भौतिक वस्तुएँ हैं, जिसमें व्यक्ति हैं, इन दोनों के मध्य तथा व्यक्तियों के मध्य क्रिया–प्रतिक्रिया होती है, जिसके फलस्वरूप कुछ मुख्य उद्देश्य सर्जित होते हैं आदि। यह एक ऐसा सामान्य विश्वास है जिस पर हमारा साधारण सामान्य जीवन टिका हुआ है। संवृत्तिशास्त्र के अनुरूप विचार करने वाले विचारक भी व्यावहारिक जीवन में इसी विश्वास को बल देकर जीते हैं।

हुसर्ल का कहना है कि यह सब अपने स्थान पर ठीक हो, किन्तु यदि हम इस विश्वास के सहारे जगत की व्याख्या करना चाहें, तथा यह भी दावा करें कि इस प्रकार की व्याख्या वस्तुनिष्ठ व्याख्या होगी, तो यह दावा अयथार्थ है। उनके अनुसार प्रकृतिवादी ऐसा ही दावा करते हैं, वे इस प्रकार के मनोवृत्ति की स्वाभाविकता एवं सरलता से इतने प्रभावित हो जाते हैं कि इसी प्रकार की व्याख्या को केन्द्रीय बना देते हैं।

हुसर्ल के लिए इस प्रकार के विचार का खण्डन दो कारणों से अनिवार्य हो जाता है। एक तो इस कारण एक रूप में प्रकृतिवादी विचार संवृत्तिशास्त्र का प्रतिद्वन्द्वी सिद्धांत प्रतीत होता है। संवृत्तिशास्त्री व्याख्या का वस्तुनिष्ठ आधार ढूँढ़ना चाहता है, प्रकृतिवादी का दावा है कि उसकी व्याख्या तो वस्तुनिष्ठ है ही। प्रकृतिवादी अपनी व्याख्या को वस्तुनिष्ठ इस कारण मानता है कि यह तो किसी पक्षपात– किसी आत्मनिष्ठ मापदण्ड आदि के आधार पर व्याख्या नहीं है, यह तो भौतिक जगत की वस्तुनिष्ठता को स्वीकार कर उसी आधार पर व्याख्या देता है। तो हुसर्ल के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे स्पष्ट दिखा दें की प्रकृतिवादी वस्तुनिष्ठता वस्तुतः वस्तुनिष्ठता है ही नहीं।

दूसरा कारण जो प्रकृतिवाद के खंडन के लिए हुसर्ल को प्रेरित करता है, वह है कि उन्हें यह दिखाना आवश्यक है कि वस्तुनिष्ठता का आधार पर प्रदत्तता में है,

वस्तुनिष्ठता को मान्यता के रूप में स्वीकार कर लेने में नहीं है। व्याख्या को वस्तुनिष्ठ तो होना ही है, किन्तु वह वास्तविक रूप में वस्तुनिष्ठ तभी हो सकती है जब उनके आधार की वस्तुनिष्ठता उसी आधार में निहित हो, न स्वीकारी हुई हो, और न किसी अन्य आधार के द्वारा उस पर स्थापित कर दी गई हो। संवृत्तिशास्त्र ऐसी वस्तुनिष्ठता को स्थापित करना चाहता है, अतः उसे यह दिखाना आवश्यक है कि प्रकृतिवाद की वस्तुनिष्ठता उधार ली हुई वस्तुनिष्ठता है।

हुसर्ल का कहना है कि प्रकृतिवादी यह मानकर चलता है कि सब कुछ प्राकृतिक नियमों के द्वारा संचालित है। इस प्रकार के सिद्धांत को मानने के पीछे इसकी दो मूल मान्यताएँ हैं। वस्तुतः इन्हीं दोनों मान्यताओं पर 'प्रकृतिवादी विश्वास' टिका हुआ है। एक मान्यता तो यह है कि यह प्रकृति को स्वीकार कर अग्रसर होता है। प्रकृति को स्वीकारने का अर्थ केवल भौतिक वस्तुओं को ही स्वीकारना नहीं, बल्कि सामान्य–ज्ञान के अनुरूप यह भी स्वीकारना है कि कुछ व्यक्ति हैं। अर्थात प्रकृतिवाद अपनी सत् संबंधी व्याख्याओं को भी इस सामान्य ज्ञान के अनुरूप 'द्वैत' पर ही आधारित करता है। प्रकृतिवाद इसी पर रुकता नहीं, इससे एक पग और आगे चलता है। इसकी दूसरी मान्यता है कि ऐसे तत्त्व जो स्पष्टतः अभौतिक प्रतीत होते हैं– जैसे चेतना, संज्ञान आदि–उनकी भी पूर्ण व्याख्या प्रकृतिवाद उपकरण के द्वारा हो सकती है। आधुनिक प्रकृतिवाद तो विज्ञान का हवाला देते हुए यहाँ तक दावा करता है कि इन सबों की व्याख्या पूर्णतया भौतिक एवं प्राकृतिक नियमों के द्वारा हो सकती है।

हुसर्ल का कहना है कि इस प्रकार की प्रकृतिवादी विश्वास की जकड़ इतनी मजबूत है कि हम इससे अपने को मुक्त नहीं कर पाते, जिसके फलस्वरूप हमारी सभी प्रकार की व्याख्यायें दोषग्रस्त हो जाती हैं। अतः हुसर्ल प्रकृतिवाद का खण्डन करते हैं, तथा अपने खण्डन का केन्द्र इस प्रकृतिवादी विश्वास की दो मान्यताओं को बताते हैं। उनका कहना है कि यह दोनों मान्यताएँ जिन पर वह विश्वास आधृत है, पूर्णतया निर्मूल है, अयथार्थ हैं।

(क) इसकी पहली मान्यता हुसर्ल को अयथार्थ इस कारण प्रतीत होती है क्योंकि यहाँ 'प्रदत्त' के स्वरूप में ही एक भ्रान्तिपूर्ण धारणा को आधार बना लिया गया है। यह ठीक है कि एक दृष्टि से प्रकृतिवाद एक सही लक्ष्य को लेकर अग्रसर होता है– वह यह भी चाहता है कि उसके विचार का आधार कोई पूर्वमान्य तत्त्व ना हो बल्कि ऐसा तत्त्व हो जो अनुभव में प्राप्त हो। किन्तु 'अनुभव में प्राप्त' का उनके लिए अर्थ हो गया 'भौतिक वस्तु'। अतः एक प्रकार से प्रकृतिवाद ने 'भौतिक वस्तु' को सत् ही मान लिया। हुसर्ल का कहना है कि इसी स्थल पर भ्रान्ति है। वस्तुतः अनुभव में 'भौतिक वस्तु' प्रदत्त ही नहीं होती। वे लोग यह समझ ही नहीं पाते कि जिसे वे सत् मान रहे हैं, वह भौतिक वस्तु मूल अनुभव–विषय नहीं है, बल्कि एक संरचना है।

(ख) हुसर्ल का कहना है कि इसी विश्वास पर प्रकृतिवाद भौतिक जगत को सत् जगत कह तो देता है, किन्तु इसके लिए उसके पास कोई साक्ष्य नहीं होता। यदि विश्लेषण से यह दिखाया जाय कि भौतिक वस्तु सत् नहीं है बल्कि एक प्रकार की संरचना है, तो प्रकृतिवाद के पास इसके उत्तर में कहने के लिए कुछ नहीं रह जाता। इस दृष्टि से प्रकृतिवादी विश्वास अंधविश्वास है, एक प्रकार का दुराग्रह है।

(ग) उनका यह दुराग्रह इतना प्रबल है कि भौतिक वस्तु–जगत या अनुभव जगत के अतिरिक्त हर प्रकार की बातों को काल्पनिक या अयथार्थ मान लेते है। प्रकृतिवाद डेकार्ट की उस मूल दृष्टि की मर्मज्ञता को पकड़ ही नहीं पाता जहां उन्होंने दिखाया है कि 'चेतना' के निरसन का प्रयत्न भी चेतना ही है। वे यह भी समझ नहीं पाते कि जिसे वे 'अनुभव–जगत' कह कर सत् मान रहे हैं, वह अपने आप में कितना सिमटा हुआ, संकीर्ण एवं सीमित है। यदि मात्र उसे ही सत् मान लिया जायेगा तो 'ज्ञान' की हर सम्भावना ही समाप्त हो जाएगी।

(घ) इसी कारण हुसर्ल कहते हैं प्रकृतिवाद की पहली मान्यता तो 'सत्' की 'व्याख्या' की सम्भावना ही समाप्त कर देती है। यदि पहले से ही कुछ तत्त्वों जैसे भौतिक तत्वों, की सत्ता को स्वीकारा गया हो, तो कोई व्याख्या पूर्णतया वस्तुनिष्ठ हो ही नहीं सकती। प्रकृतिवाद भौतिक जगत को वस्तुनिष्ठ मानता अवश्य है किन्तु इसके लिए उसके पास ना कोई प्रमाण है ना कोई साक्ष्य, क्योंकि यह तो उसकी मान्यता है। तब तो, यही कहा जा सकता है कि ऐसी वस्तुनिष्ठता मानी हुई वस्तुनिष्ठता है; यह स्वीकार करने वाले की मान्यता पर निर्भर है। इस दृष्टि से ऐसे वस्तुनिष्ठता वस्तुतः वस्तुनिष्ठता ही नहीं है।

(च) हुसर्ल के अनुसार प्रकृतिवाद की दूसरी मान्यता भी यथार्थ नहीं है। प्रकृतिवाद दृष्टि की यह मान्यता है कि चेतना, संज्ञान आदि मानसिक व्यापारों की पूर्ण प्रकृतिवादी व्याख्या हो सकती है तथा उसी प्रकार की व्याख्या उसकी यथार्थ व्याख्या है। हुसर्ल इसका खण्डन करते हुए प्रथमतः तो कहते हैं कि इस प्रकार प्रयत्न एक दृष्टि से 'मानसिक' 'भौतिकीकरण' का प्रयत्न है। किन्तु ऐसे प्रयत्न करने वाले यह देख नहीं पाते कि इस प्रयत्न में स्वयं वे एक आत्मव्याघातक स्थिति में उलझ जाते हैं। उदाहरणतः चेतना की प्रकृतिवादी व्याख्या देने वाले कैसे इस अर्थ को सम्पन्न करते हैं, इसके लिए उन्हें अपनी अनुभूति– अपनी चेतना का सहारा लेना पड़ता है। इस प्रकार जिसकी व्याख्या करनी है– जिसका भौतिकीकरण करना है, उसे उस भौतिकीकरण के लिए भी उसी रूप में स्वीकारना पड़ता है।

(छ) हुसर्ल इन तत्वों की प्रकृतिवादी व्याख्या की भी परीक्षा करते हैं। सामान्यतः इस प्रकार की व्याख्या का आधार प्रकृतिवाद कुछ 'वैचारिक नियमों' को बनाता है। इन नियमों को भी एक प्रकार से प्राकृतिक नियम मानता है, तथा इस बात पर जोर

देता है कि इनके द्वारा प्रस्तुत व्याख्या वैज्ञानिक एवं तथ्यपरक होती है। हुसर्ल का कहना है कि इस प्रकार की व्याख्यायें यंत्रवादी व्याख्या होती है, किन्तु इस प्रकार की व्याख्याओं की उपादेयता बड़े ही सीमित क्षेत्र में है। कम–से–कम मानवीय व्यापार के क्षेत्र में, भावना, संज्ञान के क्षेत्र तथा मूल्यों के क्षेत्र में इस प्रकार की व्याख्या का उपयोग ही नहीं हो सकता। तो ऐसी सीमित दृष्टि को चेतना, संज्ञान, भावना आदि का आधार तो बनाया ही नहीं जा सकता और न ऐसा ही सोचा जा सकता है कि ऐसी दृष्टि सभी ज्ञान–विज्ञान को पूर्णतया वस्तुनिष्ठ आधार दे पाएगी।

इस प्रकार हुसर्ल मनोवैज्ञानिक एवं प्रकृतिवाद विश्वास दोनों की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यह दोनों हमारे सोचने के ढंग में इस प्रकार प्रवेश कर गए हैं कि वे सभी प्रकार के ज्ञान–विज्ञान को भ्रांत कर देते हैं। अतः यदि कोई ऐसा पूर्णतया वस्तुनिष्ठ एवं स्वतःसिद्ध भाव ढूँढ़ना है जो सभी ज्ञान–विज्ञान का वास्तविक आधार है। तो हमें अपने विचार को ही इन दोनों की पकड़ से मुक्त करना होगा। यह ठीक है कि इस प्रकार का वस्तुनिष्ठ सारभाव चेतना में ही पकड़ा जा सकेगा, किन्तु इसके लिए चेतना को तो इन दोनों के प्रभाव से मुक्त कर, परिष्कृत कर चेतना के मूल प्रदत्त–रूप को पकड़ना होगा। यह सम्भव कैसे होगा? इसी के लिये हुसर्ल ने अपनी संवृत्तिशास्त्र की विधि दी है। इस विधि का स्पष्टीकरण ही हुसर्ल का संवृत्तिशास्त्र है, ऐसा नहीं है कि विधि को स्पष्ट कर तब उसके प्रयोग के द्वारा जो कार्य–सिद्ध हो वह संवृत्तिशास्त्र का दर्शन है। नहीं, संवृत्तिशास्त्र को समझने का अर्थ है इस विधि के व्यवहार एवं उपयोग को समझना। इस कारण हुसर्ल कहते हैं कि संवृत्तिशास्त्र को जानने के लिए संवृत्तिशास्त्री बनना पड़ता है–इस विधि के प्रयोग में प्रवेश करना पड़ता है। तो अब हम यही करेंगे।

2.4 सारांश

हुसर्ल के अनुसार ब्रिटिश अनुभववादियों की मनोविज्ञानपरकता ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से आत्मघाती है और अस्तित्वपरक दृष्टि से अपर्याप्त। मनोवैज्ञानिक नियम परिवर्तनशील हो सकते हैं उनके आधार पर हम वस्तुनिष्ठ और अनिवार्य नियम की व्याख्या नहीं कर सकते; यही कारण है कि मनोवैज्ञानिक नियम संशयवाद की ओर ले जाता है फिर यदि हमारा सारा ज्ञान प्रामाणिक संवेदनाओं से निर्मित है और उन्हीं तक सीमित है तो हम अपने आगामी चिंतन के संबंध में किसी प्रकार का अग्र दान कैसे कर सकते हैं?

मनोविज्ञानपरकता के अतिरिक्त हुसर्ल प्राकृतिक विज्ञानों के प्रकृतिवादी दृष्टिकोण की आलोचना करते हैं। इस दृष्टिकोण में हम अपने को वस्तुओं में इतना निमग्न कर देते हैं और उन वस्तुओं का निर्देश करने वाली विषयापेक्षाओं की अवहेलना करते हैं; जबकि इन्हीं विषयापेक्षाओं पर वस्तु का अर्थ एवं मूल्य निर्भर करता है।

2.5 शब्दार्थ सूची

सार्वभौमता	सभी स्थान पर मान्य
सापेक्ष	किसी अपेक्षा से
अस्तित्व	विद्यमान
अभिप्रेत	किसी विषय की ओर उन्मुख
असम्बन्धित	पृथक
पुनरुक्ति	दोबारा कथन
साक्ष्य	प्रमाण
अभिरुचि	किसी रुचि की ओर उन्मुख
भौतिक वस्तु	जो स्थान घेरता हो

2.6 संदर्भ एवं उपयोगी पुस्तक

1. हुसर्लः लॉजिकल इन्वेश्टिगेशन
2. हुसर्लः आइडियाज, कार्टेजियन मेडीटेशन्स
3. हुसर्लः आइडिया ऑफ फेनामेनालॉजी
4. हुसर्लः फार्मल एण्ड ट्रासिडेन्टल लॉजिक
5. हेगेल : फेनोमेनलॉजी ऑफ स्पिरिट
6. प्रो0 बी के लालः समकालीन पाश्चात्य दर्शन
7. प्रो0 लक्ष्मी सक्सेनाः समकालीन पाश्चात्य दर्शन

2.7 बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय :

1. मनोवैज्ञानिकता से आप क्या समझते हैं?
2. मनोवैज्ञानिकता के सम्बन्ध में पुनरुक्ति का अर्थ स्पष्ट करें।
3. मनोवैज्ञानिकता में हुसर्ल कौन से दो दोष दिखाते है?
4. मनोवैज्ञानिकता किसे अपना अन्वेष्य विषय समझती है?
5. प्रकृतिवादी विश्वास क्या हैं?

6. प्रकृतिवाद जगत को किस आधर पर सत् मानता हैं?

7. प्रकृतिवादी मानसिक व्यापारों की व्याख्या किस प्रकार करते हैं?

8. प्रकृतिवादी वैचारिक नियम क्या हैं?

दीर्घ उत्तरीय :

1. हुसर्ल के खण्डन पक्ष से आप क्या समझते हैं?

2. मनोवैज्ञानिकता की आलोचना हुसर्ल कैसे करते हैं?

3. हुसर्ल के अनुसार प्रकृतिवाद का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए

इकाई – 03 संवृत्तिशास्त्रोय विधि

इकाई की रूपरेखा

3.1 उद्देश्य

3.2 प्रस्तावना

3.3 पाठ प्रस्तुतीकरण

3.3.1 विषय प्रवेश

3.3.2 संवृत्तिशास्त्र का अर्थ

3.3.3 हुसर्ल के विचारों की भूमिका

3.3.4 संवृत्तिशास्त्र का सामान्य स्वरूप एवं लक्ष्य

3.4 सारांश

3.5 शब्दार्थ सूची

3.6 संदर्भ एवं उपयोगी पुस्तक

3.7 सम्बन्धित प्रश्न

3.1 उद्देश्य

इस खण्ड का अध्ययन करने के पश्चात आप निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति करने में सक्षम होंगे :

- संवृत्तिशास्त्रीय विधि के सामान्य रूपरेखा को जानने में।
- संवृत्तिशास्त्रीय विधि के दर्शन को जानने में।
- असम्बन्धन को जानने में।
- विभिन्न प्रकार के अपचयन को जानने में।
- अपचयित शुद्ध संवृत्तिभाव को जानने में।

3.2 प्रस्तावना

सर्वप्रथम हुसर्ल और उनके अनुयायियों ने इस शब्द का प्रयोग एक संपूर्ण दार्शनिक विधि के लिए किया। फेनोमेनालॉजी के अध्ययन का विषय है चेतना और उसका लक्ष्य। चेतना में आद्य प्रदत्त मूल भाव को पकड़ना। हुसर्ल आत्मनिष्ठ चेतना के विश्लेषण द्वारा ऐसे स्वतः सिद्ध वस्तुनिष्ठ सार भाव को ढूँढना चाहते हैं जो प्रत्येक प्रकार

के ज्ञान का आधार हो। उनकी रुचि तत्त्व मीमांसा में ना होकर ज्ञान मीमांसा में है, उनका उद्देश्य चेतना के विकास की नहीं बल्कि चेतना में प्रयुक्त प्रदत्तों की खोज करना है। उनके अनुसार वास्तविक वस्तु वह है जिसकी प्राप्ति शुद्ध चेतना में होती है।

3.3 पाठ प्रस्तुतीकरण :

3.3.1 विषय प्रवेश :

संवृत्तिशास्त्र में क्रमिक विकास दिखाई देता है। संवृत्तिशास्त्र दर्शन शास्त्र से अधिक एक दार्शनिक प्रणाली है जिसका उद्देश्य हमें धार्मिकता के उस आरम्भ बिन्दु तक ले जाना है, जो सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों, पूर्व मान्यताओं और पक्षपात से रहित और मनोवैज्ञानिक प्राकृतिक एवं आदिम वस्तुवादि दृष्टिकोणों से मुक्त हो। इसलिए हुसर्ल देतार्त के दर्शन को सबसे महत्वपूर्ण मानते हैं।

हुसर्ल ने अपनी संवृत्तिशास्त्र की विधि दी है। इस विधि का स्पष्टीकरण ही हुसर्ल का संवृत्तिशास्त्र है। ऐसा नहीं है कि विधि को स्पष्ट कर तब उसके प्रयोग के द्वारा जो कार्य–सिद्ध हो वह संवृत्तिशास्त्र का दर्शन है। नहीं, संवृत्तिशास्त्र को समझने का अर्थ है इस विधि के व्यवहार एवं उपयोग को समझना। इस कारण हुसर्ल कहते हैं कि संवृत्तिशास्त्र को जानने के लिए संवृत्तिशास्त्रीय बनना पड़ता है – इस विधि के प्रयोग में प्रवेश करना पड़ता है। तो अब हम यही करेंगे।

3.3.2 संवृत्तिशास्त्रोय विधि

हुसर्ल के अनुसार हर चिंतन की एक विधि होती है। अपनी विधि को बिना स्पष्ट किये ही चिंतन की ओर अग्रसर होने से एक तरफ जहाँ चिंतन में विसंगति तथा उलझने उत्पन्न होती हैं, वहीं दूसरी तरफ वह दिशाहीन तथा अव्यवस्थित भी हो जाती है। और यदि प्रारंभ में ही विधि स्पष्ट हो जाए तो चिंतन एक निश्चित तरीके से व्यवस्थित होकर अग्रसर होता है। हुसर्ल ने इसीलिए संवृत्तिशास्त्रीय विधि का निरूपण किया है जिसमें सवृत्तिशास्त्रीय चिंतन चल पड़ा।

हुसर्ल की उक्ति है कि ''ऐसी विधि आत्मनिष्ठ होती है'' लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वह व्यक्तिमूलक है। कोई भी चिंतन सर्वथा नवीन ना होकर किसी पूर्व प्रदत्त क्षेत्र में ही होता है और ऐसी स्थिति में उसकी प्रदत्तता का निर्धारण किसी आत्मनिष्ठ केंद्र के वास्तविक या संभव अनुमान के द्वारा ही संभव होता है। इस प्रकार की आत्मनिष्ठ विधि का बड़ा ही सुंदर उदाहरण देकार्त के दर्शन में मिलता है तथा 'विधि की खोज' में हुसर्ल देकार्त के अनुगामी हैं। हुसर्ल के अनुसार देकार्त वह प्रथम दार्शनिक थे जिन्होंने पूर्व मान्यता रहित दर्शन की आवश्यकता को समझकर संदेह पद्धति को स्वीकार किया। हुसर्ल का संदेह वास्तविक अर्थों में मूलगामी है। इस मूलगामी दर्शन में जगत का अनुभव, जो सार्वभौम ज्ञान का आधार है, अस्वीकार्य हो जाता है। जगत की वास्तविकता

एक कल्पना है, जिसकी जाँच एवं पुष्टि की आवश्यकता है।

हुसर्ल ने डेकार्ट की आत्मनिष्ठ विधि को लेकर उसकी कमियों को दूर करके उसे अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप परिष्कृत, परिमार्जित एवं परिवर्तित किया है। यहाँ पर एक कठिनाई उत्पन्न होती है कि आत्मनिष्ठ विधि से वस्तुनिष्ठ भाव को कैसे पकड़ा जा सकता है? हुसर्ल इस समस्या के समाधान में **ब्रण्टानों** के 'चेतना के विषयापेक्षा सिद्धांत' का सहारा लेते हैं। चेतना कभी भी रिक्त नहीं होती, वह अनिवार्यतः किसी की चेतना होती है अर्थात वह अनिवार्यतः विषयोन्मुख होती है। अतः चेतना में प्रदत्त विषय वही विषय हैं जिस ओर चेतना उन्मुख है। अतः चेतना के विश्लेषण से ही उसमें प्रदत्त विषय को पकड़ा जा सकता है। चेतना की विषयोन्मुखता में ही चेतना का विषय प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार आत्मनिष्ठ विश्लेषण से वस्तुनिष्ठ तत्व को प्राप्त करने में कोई आत्मविरोध तथा विसंगति नहीं है।

हुसर्ल के अनुसार यदि चेतन पूर्णतया परिष्कृत तथा शुद्ध रहे तो उसकी विषयोन्मुखता को सुगमता से जाना जा सकता है। किंतु सामान्य रूप में उपलब्ध चेतना अनेक प्रकार के प्रभावों, विकारों तथा विश्वासों से विकृत हो जाती है लेकिन इसका परिष्करण सवृत्तशास्त्रीय विधि से ही संभव है। हुसर्ल के अनुसार दो प्रकार के विकारों प्रथम वाह्य रूप से विकृत करने वाले विकार जिन्हें सामान्य प्रकृतिवादी विश्वास तथा दूसरे मनोवैज्ञानिक प्रभाव से उत्पन्न विकार – के कारण चेतना विकृत हो जाती है तथा सवृत्तशास्त्र चेतना को दोनों विकारों से परिष्कृत कर उसकी विषयोन्मुखता को परखने की विधि है। यह परिष्करण दो स्तरों में संभव है– प्रथमतः चेतना को वाह्य प्रभावों यानी प्रकृतिवादी विश्वासों से निवृत्ति या असंबद्ध (Epoche) किया जाता है। द्वितीय – चेतना को मनोवैज्ञानिक साहचर्य के कारण उत्पन्न आंतरिक विकारों से परिष्कृत करने की प्रक्रिया में विभिन्न प्रकार के अपचयन आते हैं जो क्रमिक ढंग से एवं शनैः–शनैः चलती है। इन्हीं स्तरों से संवृत्तिशास्त्र चेतना के शुद्ध रूप तक पहुंचने का उपक्रम करती है जिससे चेतना के विषय को पकड़ा जा सके। इसीलिए संवृत्तिशास्त्र की विधि को असंबंधन (Epoche) तथा अपचयन (Reduction) की विधि कहा जाता है।

3.3.3 असंबंधन एवं अपचयन

असंबंधन (Epoche)

हुसर्ल के अनुसार विधि रूप में असंबंधन (Epoche) कुछ ऐसे भावों, विचारों तथा विश्वासों से अलग रहने का प्रयत्न है जो किसी न किसी रूप में अन्वेषण की विधि को घेरे रहते हैं। हुसर्ल का कहना है कि प्रकृतिवादी विश्वास एक प्रकार से पूर्वमान्यता लिये रहते हैं तथा पूर्वमान्यताओं से जकड़े रहने की अवस्था में चेतना अपने में प्रदत्त विषय को उसके प्रदत–रूप में नहीं पकड़ सकती। इसीलिए असंबंधन (Epoche) के स्तर में प्रकृतिवाद विश्वासों को चेतना से असंबंधित किया जाता है।

लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम असंबंधन की प्रक्रिया में प्रकृतिवादी विश्वास तथा भौतिक वस्तु का निषेध या उन पर संशय करते हैं। बल्कि इसमें प्रकृतिवादी विश्वासों के संबंध में हम निर्णय कुछ समय के लिए निलंबित या स्थगित कर देते हैं। हम उन्हें केवल अपनी विधि प्रयोग के लिए अपने से अलग कर देते हैं, उनके प्रभाव से अपने को मुक्त करने के लिए उन्हें क्रियाहीन कर देते हैं। उन्हें विचार से अलग रखने की चेष्टा करते है। संक्षेप में असंबंधन में कुछ काल के लिए प्रकृतिवादी जगत कोष्ठों के अंतर्गत बंद कर दिया जाता है, उसका कोष्ठीकरण (Bracketing) हो जाता है, मात्र इस उद्देश्य से कि वे अभी विचार को प्रभावित–विकृत न करें।

अतः असंबंधन का अर्थ प्रकृति या वस्तु में अविश्वास या निषेध नहीं, बल्कि कुछ काल के लिए उनके संबंध में निर्णय को स्थगित करना है। असंबंधन के द्वारा प्रकृतिवादी विश्वासों को पीछे ढकेलते–ढकेलते हम वाह्य विकृतियों से मुक्त चेतना के अधिकृत चेतना रूप तक पहुँच जाते हैं। परिणामस्वरूप उन वस्तुओं के स्थान पर उनका प्रतीत होना, देखा जाना, अनुभूत होना शेष रह जाता है। आभासिकी इसी 'देखे जाने का निरीक्षण' है जिसमें वस्तुओं का देखा जाना प्रत्यक्ष तथा निरपेक्ष रूप से देखा जाना प्रदत्त है।

ऐतिहासिक दृष्टि से असंबंधन का आधार देकार्त की संदेह पद्धति है। परन्तु छेकार्त–विधि के विपरीत असंबंधन किसी सत्ता का निराकरण न कर केवल हमारे प्राकृतिक दृष्टिकोण में अंतर करती है। एक सीमित दृष्टिकोण से हुसर्ल की इस पद्धति की तुलना माध्यमिक या शून्यवादी प्रासंगिक विधि से की जा सकती है। माध्यमिक दर्शन भी सभी प्रकार के दार्शनिक तथा प्राकृतिक पूर्वाग्रहों से उन्मुक्त होने पर बल देता है। ये पूर्वाग्रह, पूर्व विश्वास एवं विकल्पजाल बुद्धि को मलिन कर देते हैं। उसको उसे विमल रूप में प्रकाशित नहीं होने देते। अस्तु वे इन सब का प्रत्याख्यान करने के लिए शून्यता का प्रतिपादन करते हैं (सर्वसंकल्पप्रहाणाय शून्यताऽमृतदेशना)। किंतु यहाँ ध्यातव्य है कि जहां पर माध्यमिक दर्शन का उद्देश्य शुद्ध रूप से आध्यात्मिक है– निर्वाण की प्राप्ति है– हुर्सल के दर्शन का इस प्रकार का कोई लक्ष्य नहीं प्रतिपादित किया गया है।

अपचयन या स्थगन (Reduction)

जब असंबंधन द्वारा चेतना वाह्य विकारों से मुक्त हो जाए तब इसके अध्ययन के विभिन्न स्तरों में आंतरिक विकारों से शुद्धिकरण किया जाता है। अब चयन की क्रिया चेतना की वास्तविक एवं शुद्ध रूप का अनावरण करती है। यह विधि चेतना का विश्लेषण करके उसकी मूल संरचना का अनावरण करती है जो किसी भी विश्लेषण के मूल में आवश्यक शर्त के रूप में विद्यमान होती है। इस विधि द्वारा अनुभव में शुद्ध चेतना के अतिरिक्त जो कुछ अन्य होता है उसे निरस्त कर दिया जाता है। जिसके फलस्वरूप अनुभवातीत या अगोचर आत्मा अपने मूल रूप में प्रकाशित होने लगता है।

अपचयन की प्रक्रिया तीन स्तरों पर संपादित होती है–

1. मनोवैज्ञानिक अपचयन

2. तात्त्विक अपचयन

3. मूर्त्तिकल्पी अपचयन

संवृत्तिशास्त्रीय या **मनोवैज्ञानिक अपचयन** के स्तर में चेतना को मनोवैज्ञानिक साहचर्य–आत्मनिष्ठता, सापेक्षता व सांवेगिकता से मुक्त करने की चेष्टा करते हैं। इससे मुक्त होने के बाद चेतन 'आत्म' की चेतना के रूप में प्रकट होता है। इस अध्ययन के बाद चेतना एक आत्मनिष्ठ आंतरिकता के रूप में दिखाई देती है।

इससे मुक्त करने के लिए **तात्त्विक अपचयन** होता है। इसमें चेतना को सभी प्रकार के अस्तित्वों– भौतिक तथा आध्यात्मिक से मुक्त करने की चेष्टा करते है। इस रूप में चेतना की विषयोन्मुखता स्पष्ट होती है तथा चेतना का चेतना–रूप प्रकाश में आता है। किंतु इसके बाद ही एक और अपचयन की आवश्यकता होती है।

मूर्तिकल्पी अपचयन – अपचयन के इस स्तर में चेतना में प्रदत्त विषय को एक सामान्य के रूप में समझने की चेष्टा की जाती है। ध्यातव्य है कि ये सामान्य कांट के बारह मानसिक कोटियों के समान नहीं है, क्योंकि काण्ट की कोटियाँ तो मन में विद्यमान हैं।

अपचयन की प्रक्रिया का पाश्चात्य दर्शन से कोई परिचय ना होने के कारण दुर्बोध अवश्य है लेकिन भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में यह दर्शन प्रणाली ना तो दुर्बोध है, ना ही नवीन। वेदांत तथा सांख्ययोग में जिस साक्षी पुरुष अथवा शुद्ध द्रव्य की चर्चा की गई है तथा जिसे अगोचर तथा अनुभवातीत सत् के रूप में स्वीकार किया गया है, उसका ज्ञान और साक्षात्कार योगाभ्यास की प्रक्रिया का परिणाम है। योग दर्शन की अंतरंग योगक्रिया– प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि में हम क्रमशः जगत की सत्ता से अपने को अलग करते हुए शुद्ध चेतना – अनुभवातीत विषयिता – के मूल बिंदु पर पहुंचते हैं। योग दर्शन की और असंप्रज्ञात या समाधि की अवस्था निश्चय ही संवृत्तिशास्त्रीय अपचयन की पराकाष्ठा है जिसमें साधक अपनी शुद्धिता में विषयिता में अवस्थित होकर समस्त वास्तविकता के कलातीत ज्ञान का अधिकारी बन जाता है।

3.3.4 अपचयित विशुद्ध संवृत्तिभाव

संवृत्तिशास्त्र की विधि विभिन्न स्तरों के और असंबंधन एवं अपचयनों से होती हुई इस स्तर पर आ जाती है कि वह शुद्ध सवृत्ति भाव को देख सके। पूर्णतया परिष्कृत चेतना में पूर्णतया अपचयित वे ही भाव होंगे जो स्वतः अपनी प्रदत्तता में दिखाई देते हैं और इस प्रकार पूर्ण तथा वस्तुनिष्ठ होते हैं। हुसर्ल के अनुसार हर प्रकार की चेतना को उसके मौलिक रूपों में किसी विषय की अपेक्षा रहती ही है। यह अनिवार्य नहीं कि वह

विषय अस्तित्ववान वस्तु हो। जब चेतना की विषयोन्मुखता में विषय स्पष्ट होते हैं तो वह विषय का भाव रुप (essence) है, विषय नहीं। उनके मत में इस प्रकार के शुद्ध अपचयित भाव वस्तुनिष्ठ सार भाव है जो हर प्रकार के ज्ञान–संज्ञान के जड़ में है।

हुसर्ल चेतना का विस्तार समग्र सत्ता तक करके विषयी–विषय के अपरिहार्य द्वैत को समाप्त कर देते हैं। हुसर्ल के इस सर्वसमावेशी चेतना का अद्वैत के आत्मा या ब्रह्म के साथ अद्‌भुत साम्य है। हुर्सल का यह कहना कि चेतना से बाहर किसी वस्तु की कल्पना एक असंगत बात है, उन्हें निश्चय ही अद्वैत दर्शन के निकट ला देता है। जब चेतना मूल रूप में आ जाती है तो वह शुद्ध दृष्टि है जिसके सांख्य व वेदान्त में साक्षिन् की संज्ञा दी गई है। अनुभव की विभिन्न अवस्थाएं– जाग्रत, स्वप्न, जागरण आदि आत्मा की एकता को भंग नहीं करती। उपनिषदों तथा वेदांत में भी जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति का विश्लेषण करके आत्मा के नित्य और अपरिणामी स्वरूप की व्याख्या की गई है।

तात्विक पक्ष

हुसर्ल यह स्वीकार करते हैं कि उनकी संवृत्तिशास्त्र की विधि अन्ततः एक अनुभवातीत आत्मा तक ले जाती है। वस्तुतः उनकी संवृत्तिशास्त्र में जो विधि तात्विकता उभरती है; वह इसी अनुभवातीत आत्मनिष्ठता से संबंधित है। एक आत्मनिष्ठता स्वीकार करना पड़ता है..... अन्यथा विधि की प्रक्रिया जड़हीन हो जाएगी। किंतु यह साधारण आत्मनिष्ठता नहीं है। तात्विक आत्मनिष्ठता है, जिसे मनोवैज्ञानिक ढाँचे में नहीं ढाला जा सकता। इसे स्वीकारे बिना संवृत्तिशास्त्र की प्रक्रिया नहीं चल सकती। यह इसकी तार्किक अनिवार्यता है, अस्तित्वमूलक साक्ष्य नहीं।

हुसर्ल मानते हैं कि संवृत्तिशास्त्र का अंतिम रूप अतीन्द्रिय विज्ञानवाद है। अनुभवातीत आत्मा जो शुद्ध विषयिता है, समस्त सत्ता, सत्य एवं ज्ञान का आधार है। भारतीय दर्शन की शब्दावली में हुसर्ल ने जीव तथा आत्मा में स्पष्ट भेद किया है। हुसर्ल द्वारा सांसारिक या प्राकृत आत्मा तथा अनुभवातीत आत्मा का भेद उपनिषदों, सांख्य, योग तथा अद्वैत वेदांत में निरूपित जीव तथा आत्मा के भेद का स्मरण दिला देता है। हुसर्ल के अनुसार अनुभवातीत आत्मा अपचयन का अंतिम अवशेष है। उसका अपचयन नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार शंकर अपने दर्शन को चैतन्य आत्मा से प्रारंभ करते हैं उसी प्रकार हुसर्ल ने भी अपने दर्शन का प्रारंभ एक अतींद्रिय आत्मा से किया है। अतः उनके दर्शन को अतीन्द्रिय विज्ञानवाद की संज्ञा दी गई है।

हुसर्ल के अपचयन सिद्धांत की बड़े जोरदार ढंग से आलोचना हुई है। आलोचकों के अनुसार हुसर्ल का अपचयन सिद्धांत उसके 'वस्तुओं की ओर चलो' सिद्धांत से मेल नहीं खाता। उनके दर्शन में अपचयित वस्तुगत वास्तविकता हमेशा के लिए कोष्ठीकृत हो जाती है तथा समस्त संवृत्तिशास्त्र अध्ययन शुद्ध चेतना का अध्ययन मात्र रह जाता है। अतः अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने जगत तथा चेतना का अध्ययन करने का प्रयास किया है।

3.4 सारांश

हुसर्ल फेनॉमेना को एक नवीन विधि मानते हुए कहते हैं कि अन्य सभी विधियां; पूर्व मान्यताओं को किसी न किसी रूप में स्वीकार करती है। इस क्रम में वे कुछ महत्वपूर्ण विधियों को भी अपूर्ण सिद्ध करते हैं। प्रथम तो तार्किक निगमनात्मक विधि को समकालीन दर्शन में कुछ संदर्भ में तार्किक भाववादियो ने तथा सभी प्रत्ययवादियों ने स्वीकार किया है। इस विधि की कमी यह है कि यह तार्किक आकारों को स्वीकार कर लेती है। अतः इसका प्रयोग संपूर्ण दर्शन के लिए नहीं किया जा सकता। दूसरे, दार्शनिकों ने कुछ न कुछ पूर्व मान्यता अथवा पूर्वाग्रह अवश्य स्वीकार की है जैसे– इंद्रियानुभववादियों का इंद्रिय को अनुभव का एकमात्र स्रोत मानना; बुद्धिवादियों का बुद्धि को ज्ञान का एकमात्र स्रोत मानना; काण्ट का 'अनुभव संभव है' का पूर्वाग्रह हेगेल का द्वन्द्व न्याय को मानने का पूर्वाग्रह। हुसर्ल को ये पूर्वाग्रह स्वीकार्य नहीं है।

3.5 शब्दार्थ सूची

स्वतः सिद्ध – जिसकी सिद्ध हेतु प्रमाण आवश्यक न हो।

स्वतः प्रदत्त – जिसके अस्तित्व हेतु आधार आवश्यक न हो।

कृत्रिम – निर्मित

आद्य प्रदत्त – अनुभव के पहले से विद्यमान

मूल प्रदत्त – मौलिक रूप से विद्यमान

संवेदना – विषय सापेक्ष इन्द्रिय प्रतिक्रिया

निमग्न – लीन

अन्वेषण – खोज

निषेध – खंडन

आभासिकी – मिथ्या

दुर्बोध – कठिन

सर्वसमावेशी – सबको समाहित करने वाली

3.6 संदर्भ एवं उपयोगी पुस्तक

1. हुसर्लः लॉजिकल इन्वेस्टिगेशन
2. हुसर्लः आइडियाज, कार्टेजियन मेडीटेसन्स
3. हुसर्लः आइडिया ऑफ फेनामेनालॉजी

4. हुसर्लः फार्मल एण्ड ट्रासिडेन्टल लॉजिक

5. हेगेल : फेनोमेनालॉजी ऑफ स्पिरिट

6. प्रो0 बी के लालः समकालीन पाश्चात्य दर्शन

7. प्रो0 लक्ष्मी सक्सेनाः समकालीन पाश्चात्य दर्शन

3.7 बोध प्रश्न

1. संवृत्तिशास्त्र के उद्‌भव एवं विकास का संक्षिप्त परिचय दें?
2. हुसर्ल की प्रमुख रचनाओं के नाम बतायें?
3. संवृत्तिशास्त्र का सामान्य स्वरूप एवं लक्ष्य क्या है?
4. असंबंधन एवं अपचयन के अर्थ स्पष्ट करें।
5. कोष्ठीकरण से आप क्या समझते है?
6. अपचयन की प्रक्रिया के तीन स्तरों की व्याख्या करें।

दीर्घ उत्तरीय :

1. हुसर्ल की संवृत्तिशास्त्रीय विधि से आप क्या समझते हैं?
2. चेतना की विषयापेक्षा से हुसर्ल का क्या आशय है?
3. हुसर्ल के अनुसार चेतना के स्वरूप का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।

इकाई – 04 हुसर्ल का ऐतिहासिक महत्व

इकाई की रूपरेखा

4.1 उद्देश्य

4.2 प्रस्तावना

4.3 पाठ प्रस्तुतीकरण

4.3.1 विषय प्रवेश

4.3.2 हुसर्ल की संवृत्तिशास्त्र में उभरा तात्त्विक पक्ष

4.3.3 हुसर्ल का ऐतिहासिक महत्त्व

4.4 सारांश

4.5 शब्दार्थ सूची

4.6 संदर्भ एवं उपयोगी पुस्तक

4.7 सम्बन्धित प्रश्न

4.1 उद्देश्य

इस खण्ड का अध्ययन करने के पश्चात आप निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति करने में सक्षम होंगे :

- संवृत्तिशास्त्र के तात्त्विक पक्ष को जानने में।
- हुसर्ल के ऐतिहासिक महत्त्व को जानने में।

4.2 प्रस्तावना

संवृत्तिशास्त्र बीसवीं सदी में प्रमुख एवं नवीन दर्शन के रूप में दर्शन शास्त्र के जगत में प्रतिष्ठित हुआ। इसका विकास यूरोप महादेश विशेषतः जर्मनी में हुआ। संवृत्तिशास्त्र वास्तव में दर्शन–तंत्र से अधिक दर्शन–प्रणाली है जिसका उद्देश्य हमें दार्शनिकता के उस प्रारंभ बिंदु पर ले जाना है जो सभी प्रकार के पूर्व मान्यताओं पूर्वाग्रहों और पक्षपात से रहित है, जो मनोवैज्ञानिक प्राकृतिक एवं आदिम वस्तुवादी दृष्टिकोण से मुक्त है। इस विचारधारा का सम्यक विश्लेषण और विकास हुसर्ल द्वारा होने से हुसर्ल को ही संवृत्तिशास्त्र का प्रणेता माना जाता है।

हुसर्ल का जन्म 8 अप्रैल, 1859ई0 को जर्मनी में हुआ था। हुसर्ल की प्रमुख रचनाएं हैं: लॉजिकल इन्वेस्टिगेशन, आइडियाज, कार्टेजियन मेडीटेसन्स, आइडिया ऑफ फेनामेनालॉजी, फार्मल एण्ड ट्रासिडेन्टल लॉजिक।

हुसर्ल ने देखा कि दार्शनिक चिंतन का प्रचलित ढंग एक प्रकार से असफल है। क्योंकि वह जिस आधार पर टिका है वह चिंतन का वास्तविक आधार ही नहीं है। चिंतन का वास्तविक आधार वही हो सकता है जिसे किसी अन्य आधार की अपेक्षा न हो। जिसे किसी अन्य पर झुकने की आवश्यकता न हो। अतः चिंतन के वास्तविक आधार को **स्वतः सिद्ध** तथा **स्वतः प्रदत्त** होना आवश्यक है। अन्यथा सभी चिंतन पूर्णतया कृत्रिम ही हो जायेंगें। इस प्रकार हुसर्ल के अनुसार ऐसी स्वतः सिद्ध आधार पर चिंतन को बिठाने का प्रयास संवृत्तिशास्त्र की दृष्टि है तथा उस आधार को पकड़ने का ढंग संवृत्तिशास्त्र की विधि है।

4.3 पाठ प्रस्तुतीकरण :

4.3.1 विषय प्रवेश :

हुसर्ल कहते हैं कि मूल अर्थों को पकड़ कर हम अपने ज्ञान का वास्तविक अर्थनिरूपण कर सकते है। हम जिन मूल अर्थों को पकड़ पाते हैं, उन्हीं के अनुरूप वस्तु का अर्थनिरूपण कर पाते हैं। यही कारण है कि वस्तुओं के अवबोध में भी भिन्नता होती है, तथा भ्रान्ति की सम्भावना भी हो जाती है। भ्रान्ति की सम्भावना तो हर क्षण होती है, क्योंकि हम चेतना में प्रदत्त मूल अर्थ को पकड़ नहीं पाते। हर वस्तु के अर्थ निरूपण में भिन्नता इस कारण होती है कि यदि हम मूल अर्थ को देख भी पाते है, तो वे एक ही प्रकार से स्पष्ट नहीं होते। इस प्रकार हम देखेंगे कि हुसर्ल की संवृत्तिशास्त्र, चेतना एवं अवगति – विशेषतः प्रत्यक्ष की समुचित व्याख्या कर पाता है।

4.3.2 हुसर्ल की संवृत्तिशास्त्र में उभरा तात्त्विक पक्ष

जिस रूप में इस इकाई का 'शीर्षक' बनाया गया है, उसी से एक बात स्पष्ट हो जाती है। हम हुसर्ल के विचारों के तात्त्विक पक्ष का उल्लेख नहीं कर रहे हैं, उसमें उभरे तात्त्विक पक्ष का उल्लेख कर रहे हैं। हुसर्ल अपनी संवृत्तिशास्त्र की योजना में तात्त्विक विवेचन को स्थान नहीं देते। उनका उद्देश्य– कम से कम प्रारंभिक उद्देश्य– तात्त्विक विवेचनाओं में उलझने का नहीं है। उनका उद्देश्य तो विधिमूलक एवं सैद्धान्तिक ढंग से ज्ञानमीमांसीय अन्वेषण था। व्यवहार में तो वे हर प्रकार की तात्त्विक मान्यताओं से विचार को और असम्बन्धित करने की बात करते हैं। फिर भी अपनी चिंतन–प्रक्रिया में हुसर्ल को कुछ तात्त्विक विवेचनाओं में उलझना ही पड़ता है। एक स्थल पर वह अपने संवृत्तिशास्त्र को 'ट्रान्सीडेन्टल आइडेलिज़्म' भी कह देते हैं, किन्तु वे यहाँ भी यह जोर देकर कहते हैं कि उनका यह 'तात्त्विक विज्ञानवाद' सामान्य अथवा प्रचलित अर्थ में न तात्त्विक है न प्रत्ययवादी। एक विशिष्ट अर्थ में ही इसे ऐसा कहा जा सकता है। इसी कारण शीर्षक में कहा गया है कि यहा हुसर्ल की संवृत्तिशास्त्रीयता में उभरे हुए तात्त्विक पक्ष का विवेचन किया जा रहा है।

हुसर्ल को यह स्वीकारना पड़ता है कि उनकी संवृत्तिशास्त्र की विधि अन्ततः एक अनुभवातीत आत्मनिष्ठता तक ले ही चलती है। वस्तुतः उनकी संवृत्तिशास्त्र में जो तात्त्विक उभरती है वह इसी अनुभवातीत आत्मनिष्ठता से सम्बन्धित है।

संवृत्तिशास्त्र की विधि अनेक स्तरों से होकर अग्रसर होती है। इन स्तरों में असंबंधन, अपचयन की प्रक्रिया चलती रहती है। किन्तु इन प्रक्रियाओं के चलने में यह भी तो स्वीकारना पड़ता है कि कोई अनुभव–केंद्र है जहाँ प्रक्रियाएं चल रही हैं, जहां इन स्तरों की भी अनुभूति है, तथा इनके क्रमिक रूप में अग्रसर होने की अनुभूति है। इस प्रकार एक 'आत्मनिष्ठता' को स्वीकारना ही पड़ता है, अन्यथा विधि की प्रक्रिया जड़हीन हो जाएगी, चल ही नहीं पाएगी। इस प्रकार हुसर्ल एक तात्त्विक आत्मनिष्ठता को स्वीकारते हैं। किन्तु इस स्थल पर कुछ महत्त्वपूर्ण बातों पर ध्यान देना अनिवार्य है। हुसर्ल स्पष्ट कहते हैं इस आत्मानिष्ठता को विशिष्ट ढंग से समझना आवश्यक है। यह साधारण आत्मानिष्ठता नहीं है। इस आत्मानिष्ठता को मनोवैज्ञानिक ढांचे में नहीं ढाला जा सकता। इसे किसी मनोवैज्ञानिक मानसिक स्थिति के रूप में नहीं समझा जा सकता, इसका कोई मनोवैज्ञानिक स्वरूप या मानसिक संरचना का निर्धारण संभव नहीं है। यह एक सैद्धान्तिक एवं तार्किक अनिवार्यता के रूप में मान्य है। प्रकृतिवादी विश्वास के ढंग पर नहीं। इसे स्वीकारे बिना संवृत्तिशास्त्र की प्रक्रिया नहीं चल सकती। यह इसकी तार्किक अनिवार्यता है।

इसी कारण हुसर्ल इस तात्त्विक आत्मनिष्ठता का तीन प्रकार से विवरण देते हैं–

(क) कहा जा सकता है कि इसकी तात्त्विकता इस बात में है कि एक प्रकार से हर विषयोन्मुख क्रिया का यह एक आधार है। विषयोन्मुखता आत्मनिष्ठता एवं विषय का संबंध है। हम आत्मनिष्ठता का स्वरूप–निर्धारण भले ही न कर सके, उसे अस्तित्ववान भी नहीं दिखा सके, किंतु यदि विषयोन्मुख क्रिया है तो वह किसी आत्मनिष्ठता को स्वीकार कर ही सार्थक हो सकती है।

(ख) तो, कहा जा सकता है कि ऐसी आत्मनिष्ठता का अपने में कोई निश्चित अस्तित्व की विधा नहीं है, बल्कि हर विषयोन्मुख क्रिया में यह नए ढंग से अस्तित्ववान होती है। इस दृष्टि से हुसर्ल की यह आत्मनिष्ठता स्थूल रूप से अस्तित्ववान कोई मानसिक अवस्था नहीं है, बल्कि इसमें एक तरलता है, जिसके फलस्वरूप हर विषयोन्मुख क्रिया में वह उस क्रिया के अनुरूप नए अर्थ मैं अस्तित्ववान होती है।

(ग) किन्तु, किसी विवरण में हुसर्ल इस आत्मनिष्ठता का विज्ञानवादी विवरण भी देते हैं। उनका कहना है कि यदि इस आत्मनिष्ठता को उसके पूर्ण मूर्त रूप में समझने की चेष्टा करें तो कहा जा सकता है कि यह आत्म चेतना की पूर्ण अभिव्यक्ति है– पूर्ण आत्म चेतना है। उस दृष्टि से मनोवैज्ञानिक अहं भाव भी इसी का एक अंश है, और उस दृष्टि से सब कुछ इसी पूर्ण आत्मनिष्ठता में ही संरचित होता है। इस प्रकार का विवरण उन्हें

विज्ञानवादी बना देता है। वैसे उनकी संवृत्तिशास्त्र (फिनामेनोलॉजी) में यह पक्ष कभी प्रबल रूप में उभरकर सामने नहीं आया है।

4.3.3 हुसर्ल का ऐतिहासिक महत्त्व

यद्यपि संवृत्तिशास्त्र में हुसर्ल सभी ज्ञान–विज्ञान के आधार को ढूँढ़ने का दावा करते हैं लेकिन संवृत्तिशास्त्र इस अर्थ में पूर्णता सफल प्रतीत नहीं होती। लेकिन संवृत्तिशास्त्र के प्रणेता के रूप में हुसर्ल को पाश्चात्य दर्शन में एक महत्वपूर्ण स्थान मिला। उनका दार्शनिक महत्व इस तथ्य में है कि उन्होंने चिंतन में एक नयी विधि दी, जिसकी प्रतिष्ठा इस बात में है कि वह प्रचलित लीक से हटकर सोचने की विधि है।

यह विधि सामान्य ज्ञान के अनुरूप होते हुए भी शास्त्रीय ढंग से सैद्धांतिक है। यह बात सर्वथा नवीन प्रतीत हुई कि विचार की सार्थकता का आद्य आधार उस भाव में है जो अपनी शुद्धता में ही देखा जा सकता है। यह बात बहुत व्यापक प्रतीत हुई क्योंकि ऐसा प्रतीत हुआ कि वस्तुतः हम किसी बात को उसी रूप में समझते हैं जिस रूप में वह हमें प्रदत्त होती है। तो ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में किसी अर्थबोध के लिए उपयुक्त यही देखना है कि उस भाव का आद्य रूप क्या है।

इस विचार की मौलिकता से लोग इतने प्रभावित हुए कि केवल दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि विचार के विभिन्न क्षेत्रों में संवृत्तिशास्त्र का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देने लगा। दर्शन के क्षेत्र में तो भाषा दर्शन एवं समाज दर्शन दोनों में संवृत्तिशास्त्रीय दृष्टि की एक विधा खुल गयी। भाषा दर्शन के क्षेत्र में तो अर्थ निरूपण का एक नया आधार उपलब्ध हो गया और संवृत्तिशास्त्र के प्रभाव में शास्त्रार्थ में मीमांसा की एक प्रमुख शाखा विकसित हो गयी।

संवृत्तिशास्त्र का ऐतिहासिक महत्व इस तथ्य में है कि दर्शन के क्षेत्र से बाहर अन्य क्षेत्रों में भी संवृत्तिशास्त्र की दृष्टि के अनुरूप नई शाखाएं फूटने लगी। एक विशेष प्रकार के मनोविज्ञान का उद्‌भव हो गया। समाजशास्त्रीय अध्ययन की एक नई शाखा का विकास हो गया, कुछ समाजशास्त्री अपने विश्लेषण में संवृत्तिशास्त्र की दृष्टि को अपनाने लगे साहित्य का क्षेत्र भी इसके प्रभाव से अछूता न रहा। इस प्रकार आज के रोचक क्षेत्र अंतर्शास्त्रीय अध्ययन के क्षेत्र में संवृत्तिशास्त्र का योगदान प्रबल रहा। इस प्रकार हुसर्ल का ऐतिहासिक महत्व इस तथ्य में है कि हुसर्ल ने न केवल दर्शन के क्षेत्र को ही बल्कि विचारों के अन्य क्षेत्रों को भी सार्थक ढंग से प्रभावित किया है तथा उस प्रभाव में विचार के विकास की नई-नई दिशाएं निर्धारित हुई है।

4.6 4.4 सारांश

संवृत्तिशास्त्र पाश्चात्य दर्शन की नवीन विचारधारा है। जिसके सम्यक विकास का श्रेय जर्मन दार्शनिक एडमण्ड हुसर्ल को जाता है। यद्यपि इस शब्द का प्रयोग काण्ट

के समकालीन दार्शनिक लैंबर्ट ने किया था। लैंबर्ट के अनुसार इसका अर्थ है भ्रम का अध्ययन। काण्ट ने फेनोमेना और नोमेना में अंतर किया था। फिनोमेना वस्तु का प्रतीयमान और नोमेना वस्तु का वास्तविक स्वरूप है। हेगेल ने भी फेनोमेनालॉजी ऑफ स्पिरिट में दिखाया है कि संवृत्तिशास्त्र का उद्देश्य 'आत्मा की जैसी प्रतीत होती है' से आरंभ करके 'आत्मा अपने आप में जैसी है' का अध्ययन है। अर्नेस्ट मार्क ने फेनोमेनालॉजी का प्रयोग आनुभाविक तथ्यों के लिए किया। किंतु इन सभी प्रयोगों में फेनोमेनालॉजी का न तो कोई निश्चित उद्देश्य था और न विधि।

हुसर्ल संवृत्तिशास्त्र जिसका तात्पर्य आभासिकी से है को संवृत्तिवाद के आधार से भिन्न तात्पर्य में प्रयोग किया है। संवृत्तिवाद में आभास या संवृत्ति तथा तत्व अथवा दृ श्य वस्तु एवं 'अपने में वस्तु' में भेद किया जाता है। संवृत्तिशास्त्र में जो प्रतीत होता है उसे ही प्रतीति कहते हैं, अर्थात् अनुभव में आद्य रूप से जो 'दृश्य वस्तु' है उसमें और 'अपने में वस्तु' में भिन्नता पाई जाती है।

संवृत्तिशास्त्र के अध्ययन की विषय वस्तु चेतना है। इसके अनुसार आद्य भाव के अन्वेषण के लिए चेतना पर ध्यान केंद्रित करना होगा क्योंकि चेतना में ही यह भाव स्पष्ट होते है। चेतना से आद्य प्रदत्त भावों को पकड़ने के रूप में संवृत्तिशास्त्र के माध्यम से ही पहली बार चेतना इस रूप में दार्शनिक अध्ययन का केंद्र बनी। हुसर्ल संवृत्तिशास्त्र में चेतना के वैज्ञानिकता को निश्चयता प्रदान करने के लिए उसके मूल आधार को अन्वेषित करने का चिंतन करते हैं जो पूर्णतया वस्तुनिष्ठ होता है।

4.7 4.5 शब्दार्थ सूची

विधिमूलक – व्यवस्थागत अथवा प्रणालीगत

तात्त्विक – अवयवगत

आत्मनिष्ठ – आत्मपरक

विषयनिष्ठ – विषयपरक

मूल प्रदत्त – मौलिक रूप से दिया हुआ

संवेदना – विषय सापेक्ष इन्द्रिय प्रतिक्रिया

विज्ञान – व्यवस्थित ज्ञान

अन्तर्शास्त्रीय – विभिन्न शास्त्रों में

निरूपण – विश्लेषण

अस्तित्व – भौतिक सत्तावान

प्रबल – सशक्त

अनुरूप – समान

4.8 संदर्भ एवं उपयोगी पुस्तक

1. हुसर्लः लॉजिकल इन्वेस्टिगेशन
2. हुसर्लः आइडियाज, कार्टेजियन मेडीटेशन्स
3. हुसर्लः आइडिया ऑफ फेनामेनालॉजी
4. हुसर्लः फार्मल एण्ड ट्रासिडेन्टल लॉजिक
5. हेगेल : फेनोमेनलॉजी ऑफ स्पिरिट
6. प्रो0 बी के लालः समकालीन पाश्चात्य दर्शन
7. प्रो0 लक्ष्मी सक्सेनाः समकालीन पाश्चात्य दर्शन

4.9 बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय :

1. हुसर्ल के संवृत्तिशास्त्र का प्रारम्भिक उद्देश्य क्या था?
2. हुसर्ल अपने संवृत्तिशास्त्र को तात्त्विक विज्ञानवाद किस अर्थ में कहते हैं?
3. हुसर्ल के संवृत्तिशास्त्र में उभरी तात्त्विकता किससे सम्बन्धित है?
4. हुसर्ल के दार्शनिक महत्त्व का मौलिक तत्त्व क्या है?
5. भाषा दर्शन के क्षेत्र में संवृत्तिशास्त्र का क्या योगदान है?

दीर्घ उत्तरीय :

1. हुसर्ल के संवृत्तिशास्त्र में उभरे तात्त्विकता पक्ष की विवेचना कीजिए?
2. तात्त्विक आत्मनिष्ठता के सम्बन्ध में हुसर्ल द्वारा प्रस्तुत तीनों प्रकारों का विवरण दीजिए?
3. हुसर्ल के ऐतिहासिक महत्त्व का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए?

खण्ड परिचय

सोरेन किर्केगार्ड बीसवीं शताब्दी के हेगल के समकालीन दार्शनिक थे। सोरेन किर्केगार्ड के समय में पश्चिमी दर्शन हेगल के विचारों से इतना प्रभावित था कि उनके

विचारों को बहुत महत्व नहीं दिया गया। किर्केगार्ड के पूर्व दर्शन जगत में तत्वमीमांसीय निरूपण या भाषा विश्लेषण को महत्व दिया गया। हेगल ने अपने निरपेक्ष तत्व को ही प्रमुखता प्रदान की। परन्तु हेगल के प्रत्ययवादी विचारधारा में मानव अस्तित्व की उपेक्षा कर दी गयी। किर्केगार्ड को ऐसा लगा कि इसमें मानव का व्यक्तित्व ही खो गया है। किर्केगार्ड दर्शन में मानव के उपेक्षित अस्तित्व को ही प्रमुखता प्रदान की। किर्केगार्ड के अनुसार मानव व्यक्तित्व निरपेक्ष सत् की मात्र अभिव्यक्ति नहीं है, अपितु मानव व्यक्तित्व, उसका अस्तित्व अनुपम एवं अद्वितीय है।

बीसवीं शताब्दी में द्वितीय विश्वयुद्ध, औद्योगीकरण, मशीनीकरण एवं साम्राज्यवाद के विस्तारवादी नीति के परिणामस्वरूप मानव अस्तित्व की समस्या सबसे प्रमुख समस्या बनकर उभरी। यद्यपि किर्केगार्ड बीसवीं शताब्दी के दार्शनिक नहीं थे किन्तु उन्होंने बहुत पहले ही यह अनुभव कर लिया था कि आने वाले समय दर्शन में मनुष्य के उपेक्षित अस्तित्व को महत्व दिया जाना आवश्यक होगा। इसीलिए उन्होंने चेष्टा की कि मानव के आन्तरिक जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत हो। उन्होंने अपने दार्शनिक विवेचन में यह दिखलाया कि व्यक्ति का मानवीय अस्तित्व आन्तरिक तनाव तथा क्लेश की अनुभूति से संरचित है। इसलिए उनका यह मानना था कि मानवीय स्थिति का यथार्थ मूल्यांकन व्यक्ति की विशिष्टता एवं आन्तरिकता के अवबोध के आधार पर ही संभव है। यही कारण है कि बीसवीं शताब्दी के एक गंभीर दर्शन के रूप में जिस अस्तित्ववादी विचारधारा का उदय हुआ उसके प्रणयन का श्रेय किर्केगार्ड को ही है। अस्तित्ववादी दर्शन ऐसा दर्शन है जो हमारा साक्षात्कार जीवन तथा जगत के ऐसे पक्षों से कराता है जिनसे अभी तक हम अनजान थे। अस्तित्ववाद दर्शन जगत में जिस प्रतिष्ठा को प्राप्त है उसके प्रणेता सोरेन किर्केगार्ड ही थे।

सोरेन किर्केगार्ड ने ईसाई धर्म के अनुयायी होते हुए भी ईसाई मत की साम्प्रदायिक दृष्टि की कटु आलोचना की है तथा ईसाई धर्म की वास्तविकता को अस्तित्ववादी दृष्टि की पृष्ठभूमि में परखने का प्रयास किया है। खण्ड–06 में सोरेन किर्केगार्ड के अस्तित्ववादी दर्शन के विविध पक्षों का सम्यक निरूपण करने का प्रयास किया गया है।

- ☞ इस खण्ड के **इकाई–5** में किर्केगार्ड के समय में प्रमुख दार्शनिक मान्यताएँ क्या थीं और किर्केगार्ड ने उन दार्शनिक मान्यताओं का प्रतिवाद करते हुए दर्शन को एक बिल्कुल नवीन दिशा में चिन्तन के लिए प्रेरित किया। उन्होंने दर्शन में मानव के उपेक्षित अस्तित्व को प्रमुखता प्रदान की और उसे दार्शनिक चिन्तन का अभिप्रेत विषय बनाया।
- ☞ इस खण्ड के **इकाई–6** में किर्केगार्ड द्वारा प्रत्ययवाद के प्रतिवाद के रूप में 'सत्य के आत्मनिष्ठ' होने का निरूपण किया जाएगा। किर्केगार्ड का कहना है कि

बौद्धिक अन्वेषण की प्रक्रिया चाहे जिस रूप में की जाए, वह इस मान्यता को स्वीकार करके ही अग्रसर होती है कि कोई 'ज्ञाता' है जो 'कुछ' जाननाा चाहता है। वह 'विषय' या 'ज्ञेय' के द्वैत पर ही आधारित है। किर्केगार्ड के अनुसार मानवीय सत्य की अनुभूति के लिए द्वैत से छुटकारा पाना होगा। मानवीय सत्य की अनुभूति का तात्पर्य है कि मानवीय सत्य को धारण किया जाए, उन्हें आत्मसात किया जाए।

☞ इस खण्ड के **इकाई–7** में अस्तित्ववाद की तीन अवस्थाओं के विषय में विचार किया गया है। इसके अन्तर्गत अस्तित्ववाद की सामान्यरूप रेखा, अस्तित्ववाद द्वारा विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं का प्रतिवाद किया जाना और अस्तित्ववाद को मानव अस्तित्व की व्याख्या करने वाले दर्शन के रूप में विवेचित किया गया है।

☞ इस खण्ड के **ईकाई–8** में किर्केगार्ड के द्वारा मानव सत्य की अत्मनिष्ठता का प्रतिपादन करने के पश्चात ऐसे विकल्पों पर विचार किया गया कि मानव अस्तित्व को किन-किन स्तरों पर जाना जा सकता है, इसके लिए उन्होंने तीन स्तरों की चर्चा की है। इन तीन अवस्थाओं में पहली अवस्था सौन्दर्यात्मक अवस्था है। इस सौन्दर्यात्मक अवस्था के विवेचन में किर्केगार्ड ने यह दिखाया है कि व्यक्ति पहले सौन्दर्यात्मक अवस्था में ही रहता है और उसी क्रम में अग्रसर होता है।

☞ इस खण्ड के **इकाई–9** में किर्केगार्ड के अस्तित्ववादी चिन्तन की उस नैतिक अवस्था का निरूपण किया गया है जो सौन्दर्यात्मक अवस्था के बाद की अवस्था है। किर्केगार्ड यह दिखाते हैं कि नैतिकता की अवस्थिति अपेक्षा की अवस्थिति है।

☞ इस खण्ड के **इकाई–10** में किर्केगार्ड द्वारा अस्तित्ववादी चिन्तन के सन्दर्भ में धार्मिकता की अवस्थिति का वर्णन किया गया है और यह दिखाया गया हे कि किर्केगार्ड के अनुसार धार्मिकता की अवस्थिति सम्पुष्टि की अवस्थिति है।

MAPH-116 (N)

समकालीन पाश्चात्य दर्शन :
भाग–2

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

खण्ड

2

किर्केगार्ड

इकाई-5	सामान्य परिचय	45-56
इकाई-6	सत्य की आत्मनिष्ठता	57–66
इकाई-7	अस्तित्वपरक द्वन्द्वन्याय (मानव अस्तित्व की तीन अवस्थाएं)	67–78
इकाई-8	सौन्दर्यात्मक अवस्था	79–90
इकाई-9	नैतिक अवस्था	91–99
इकाई-10	धार्मिक अवस्था	101–111

ईकाई– 5 किर्केगार्ड का सामान्य परिचय

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 व्यक्तित्व एवं कृतित्व

5.2.1 व्यक्तित्व

5.2.2 सोरेन किर्केगार्ड के माइकल पेडर्सन द्वारा पादरी से ली गयी धार्मिक शिक्षा

5.2.3 किर्केगार्ड पर पिता की धर्म भीरूता का प्रभाव

5.2.4 सोरने किर्केगार्ड की संस्थागत शिक्षा

5.2.5 सोरेने किर्केगार्ड का गार्हस्थ जीवन

5.3 सोरेन किर्केगार्ड का कृतित्व

5.4 किर्केगार्ड के कृतित्व में अन्तर्निहित विचार

5.4.1 किर्केगार्ड के कल्पित लेख

5.4.2 किर्केगार्ड की रचनाओं में व्यक्त ज्ञान के प्रकार

5.4.3 ज्ञान संचरण के प्रत्यक्ष विधि का समर्थन

5.4.4 दार्शनिक होने का अर्थ

5.4.5 किर्केगार्ड की अपनी रचना

5.4.6 The Point of View

5.4.7 The Sickness of Death में व्यक्त विचार

5.5 सोरेन किर्केगार्ड के दार्शनिक चिन्तन के विविध पक्ष

5.5.1 निषेधात्मक पक्ष

5.5.2 बुद्धिवाद का प्रतिवाद

5.5.3 बुद्धिवादी अमानवीयकरण को जन्म देता है

5.5.4 ईसाई धर्म का सम्प्रदाय बन कर रह जाना

5.5.5 बुद्धिवाद द्वारा अवबोध, अनुभूति, चेतना का अर्थ न कर पाना

5.5.6 सोरेन किर्केगार्ड के दार्शनिक चिन्तन का भावनात्मक पक्ष

5.5.7 सत्य का अर्थ

5.5.8 सत्य के प्रति तटस्थता से उत्पन्न भय

5.5.9 सत्य का जीवन के सभी संकल्पों के माध्यम से प्रकटन

5.5.10 सोरेन किर्केगार्ड का अस्तित्व वादी चिन्तन

5.5.11 व्यक्ति की स्वतंत्रता

5.5.12 मानव जीवन की तीन अवस्थाएँ

5.6 निष्कर्ष

5.7 सारांश

5.8 प्रश्न-बोध

5.9 उपयोगी-पुस्तक

5.0 उद्देश्य – सोरेन किर्केगार्ड के विषय में सामान्य विवरण दिया गया है। किर्केगार्ड के दर्शन के पूर्व दार्शनिक परिस्थितियों का आकलन करने का प्रयास किया गया है।

किर्केगार्ड के द्वारा अपने समय के प्रत्ययवादी विचारधारा का किये गये प्रतिवाद का निरूपण किया गया हैं।

5.1 प्रस्तावना –

अस्तित्ववादी दर्शन जिस महान दार्शनिक के देन है, वे डेनमार्क निवासी सोरेन किर्केगार्ड हैं। सोरेने किर्केगार्ड को ही अस्तित्ववादी दर्शन का प्रणेता मानाजाता है। प्रत्येक संवेदनशील व्यक्ति की भाँति किर्केगार्ड ने भी अपने ढंग से दर्शन के इतिहास को देखा और जाना और उसके प्रति अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त कीं। इन प्रतिक्रियाओं के माध्यम से उन्होंने एक नवीन जीवन दृष्टि का प्रचार किया, जिसने भावी दर्शन को न केवल समृद्ध किया, अपितु उसे एक नवीन दिशा भी दिया। कहना न होगा कि प्रत्येक जीवंत प्रतिक्रिया में एक भावनात्मक जीवन दृष्टि छुपी होती है और किर्केगार्ड की प्रतिक्रियाओं में उनकी जीवन दृष्टि छुपी थी।

5.2 व्यक्तित्व एवं कृतित्व –

5.2.1 व्यक्तित्व

सोरेन किर्केगार्ड का जन्म 1813ई. में कूपेन हेगन (डेनमार्क) में हुआ था। उनके पिता एक साधारण किसान थे। अपने परिश्रम के बल पर उन्होंने अच्छा धन कमाया और कूपेनहेगन के व्यापारियों में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लिया था। वे दृढ़ विचार के व्यक्ति होने साथ–साथ ईश्वरनिष्ठ व्यक्ति थे। अपने परिवार के ऊपर उनका दृढ़ अनुशासन था। अपने बच्चों में भी उन्होंने ईसाई धर्म से सम्बन्धित भावना को कूट–कूट कर भर दिया था।

5.2.2 सारेन किर्केगार्ड के पिता माइकल पेडर्सन द्वारा पादरी से ली गयी धार्मिक शिक्षा

सोरेन किर्केगार्ड के पिता माइकल पेडर्सन ने एक पादरी से धर्मशास्त्र का अध्ययन किया। जिस पादरी से माइकल पेडर्सन ने शिक्षा प्राप्त की थी, सारेन किर्केगार्ड ने उस शिक्षा का विरोध किया। सोरेन किर्केगार्ड उस पादरी की धार्मिक मान्यताओं से असहमत थे और उन्होंने उसकी शिक्षा के प्रचलित अनेक मान्यताओं का विरोध किया, फिर भी उस पादरी के प्रति आदर प्रकट किया है। यद्यपि किर्केगार्ड का अपने पिता से भी मतभेद था, फिर भी उन्होंने अपने पिता के प्रति सदा प्रेम एवं सम्मान का व्यवहार किया। किर्केगार्ड के पिता माइकल पेडर्सन ने अपने पहली पत्नी की मृत्यु के कुछ दिन पूर्व ही अपनी नौकरानी से दूसरा विवाह कर लिया था। उसके सात बच्चे हुए और सोरेन किर्केगार्ड उसमें सबसे छोटा था। जीवन के अन्तिम काल में माइकल पेडर्सन की पत्नी एवं उसके तीन बच्चों की मृत्यु हो गयी। इसके पश्चात माइकल पेडर्सन को घोर पश्चाताप हुआ और उसे ऐसा लगने लगा कि उसने अपने परिवार के प्रति घोर अपराध किया था।

5.2.3 किर्केगार्ड पर पिता के धर्म भीरुता का प्रभाव

पिता की धर्मभीरुता का प्रभाव किर्केगार्ड पर बहुत गहरा पड़ा। किर्केगार्ड बहुत ही संवेदनशील एवं विलक्षण प्रतिभा का था। उसका हृदय बाल्यकाल से ही करुणा से आप्लावित था अपनी पत्रिकाओं में उसने यह भाव व्यक्त करते हुए लिखा है, ''मैं जब पैदा हुआ तभी वृद्ध था, किन्तु मुझे अपनी उदासी बाहरी प्रसन्नता में छिपानी पड़ती थी।'' अपने स्वभाव के विषय में उसने स्वीकार किया है कि वह दुर्बल, कोमल एवं रुग्ण था। अपने साथियों से वह बराबरी नहीं कर पाता था। उसे किसी प्रकार से तीखे व्यंग्य करने की क्षमता प्राप्त हो गयी थी। अपने तीखे व्यंग्य करने की क्षमता और कौशल से ही वह अपनी रक्षा कर लेता था। वह ईश्वर से प्रार्थना करता था कि उसे कार्य करने के लिए उत्साह और धैर्य प्रदान करें। उसकी ईश्वर से की गयी प्रार्थना से उसे लेखक बनने की प्रेरणा प्राप्त हुई।

5.2.4 सोरेन किर्केगार्ड की संस्थागत शिक्षा

सोरेन किर्केगार्ड अपने पिता की इच्छा के अनुसार 18 वर्ष की आयु में कूपेन हेगन के विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुआ। उसने अपने अध्ययन का विषय ईश्वरशास्त्र चुना। विश्वविद्यालय में उसने कई वर्ष इतिहास, साहित्य और दर्शन का अध्ययन किया। पत्रिकाओं में अपने अध्ययन काल का वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि वे दिन उसके सबसे अधिक पतन के दिन थे। उसने आत्महत्या का भी विचार किया था। पिता की मृत्यु के पश्चात उसके जीवन में एक बड़ा मोड़ आया और जीवन के विपरीत परिस्थितियों एवं झंझावातों को चीरकर सत्य का सामना करने के लिए अपने को दृढ़ बनाया तथा अपने विरोधियों का डटकर सामना करने का निर्णय लिया। उसने अपने विरोधियों पर तीखे व्यंग्य बाणों का प्रहार किया।

अपने अध्ययन काल में किर्केगार्ड के मन में सौन्दर्य भावना जागृत हुई और वह अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम खोजने लगी। उसकी बुद्धि तथा नैतिकता उसक सौन्दर्य भावना का विरोध कर रही थी। उसके अन्तःकरण में एक अर्न्तद्वन्द्व चला रहा था। इस आन्तरिक अर्न्तद्वन्द्व के दौरान उसके मन में यह प्रश्न उठा कि वह कौन सा सत्य है, जिसको पाने के लिए मुझे जीवित रहना है? ईश्वर मुझसे क्या कराना चाहता है? अपने मन में उद्भूत इस प्रश्न का उत्तर खोजने के क्रम में वह पाया कि ईश्वर जो कुछ भी मुझसे कराना चाहता है, वही मेरे लिए सत्य है। मैं उसी सत्य को जीने एवं मरने के लिए तैयार हूं, जिस सत्य को ईश्वर ने मुझे जीने के लिए प्रदान किया है। उन्होंने अनुभव किया कि इस सत्य की जड़ें मेंरे अस्तित्व की नींव तक गहरे रूप से समायी हुई हैं। चाहे सारा जगत विनष्ट हो जाये, मेरा सम्बन्ध इस सत्य से सदा दृढ़ बना रहेगा। किर्केगार्ड के मन में उद्भूत उपर्युक्त प्रश्न उसके अस्तित्ववादी विचारों के लिए आधारभूमि प्रदान किया।

5.2.5 सोरेने किर्केगार्ड का गहस्थ जीवन

विश्वविद्यालय से एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण करने के कुछ समय पश्चात सोरेन किर्केगार्ड का रोजीना ओल्सेन से सम्बन्ध हो गया। उसने पत्रिकाओं में उसका उल्लेख किया है ओर अपने विषय में कहा है, ''मैं जो कुछ बन सका हूं, उसके लिए मैं वृद्ध पुरुष और बालिका की सरलता के लिए कृतज्ञ हूं।'' किर्केगार्ड के द्वारा किए गए पूर्व कथन में वृद्ध पुरुष से तात्पर्य उस पादरी से है जिसने उनके पिता का धर्मशास्त्र की शिक्षा दी थी और बालिका से तात्पर्य उस रेजीना ओल्सेन से है जिसके साथ उन्होंने प्रेम सम्बन्ध स्थापित किया था। कुछ ही दिनों में किर्केगार्ड को अपने कर्त्तव्य का स्मरण आया और वह रेजीना ओल्सेन से विवाह करने में झिझकने लगा। वह रेजीना के प्रेम बन्धन से छूट निकलने के लिए सोचने लगा। उसने रेजीना से अपनी अभिज्ञान मुद्रिका वापस करते हुए उससे क्षमा याचना भी कर ली। रेजीना का संस्मरण लिखते हुए किर्केगार्ड ने एक बार लिखा था, ''क्या हो गया? जब मैं बाहर था वह मेरे कमरे मे आयी। लौटने पर मैंने

उसका एक पत्र पाया जो तीव्र निराशा के उपालम्भ से भरा हुआ था। वह मेरे बिना नहीं रह सकती। यदि मैं उसे छोड़ देता हूं, तो वह जीवित नहीं रह सकेगी। वह पिछली स्मृतियों को उभारकर क्राइस्ट के पवित्र नाम और पिता का स्मरण दिलाकर मुझे विवश करती है..... परन्तु रेजीना को यह पता चला गया कि किर्केगार्ड में चारित्रिक दोष तो नहीं है, किन्तु उसका मन्तव्य समझकर वह उसे क्षमा कर देती है।

रेजीना से अपने प्रेम सम्बन्ध को तोड़ने के पश्चात किर्केगार्ड का हृदय संकल्प–विकल्प के झंझावात में पड़ गया था। उसे दो विरोधी विचारों के बीच निर्णय लेना था। उसे या तो इन्द्रिय सुख पाने के लिए वापस लौटना था या आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए आगे बढ़ना था। दो में से एक होना था। दो में से एक होना था– 'या तो यह अथवा वह।' इन्हीं विचारों ने उसकी पुस्तक 'या तो यह या तो वह (Either/or) की रचना करने के लिए प्रेरणा दी। रेजीना से अपने प्रेम बन्धन तोड़ लेने के पश्चात किर्केगार्ड बर्लिन चला गया। छः महीने बाद कूपेन हेगन लौटकर साढ़े चार वर्ष तक उसने निरन्तर कार्य किया और कई पुस्तकें लिखी। सन् 1846ई. में किर्केगार्ड के विचारों में फिर परिवर्तन आया। वह लेखन का कार्य बन्द करके चर्च की सेवा करने का विचार करने लगा, किन्तु ईसाई धर्म और स्थापित चर्च में सन्देह होने के कारण वह ऐसा न कर सका उसके बाद चार वर्षों तक उसने जमकर लिखने का कार्य किया। पहले वह छद्म नाम से लिखता रहा किन्तु अब उसने अपने वास्तविक नाम से पुस्तकें प्रकाशित करवाना प्रारम्भ कर दिया। 1851ई. के बाद उसने कुछ भी प्रकाशित नहीं करवाया उसकी मृत्यु के पश्चात अवश्य ही उसकी कुछ रचनाएँ प्रकाशित हुईं। वह 2 अक्टूबर 1855ई. को बैंक से पैसे लेकर लौटा और पक्षाघात से ग्रसित हो गया। अस्पताल में भर्ती होने पर उसने राज्य के कर्मचारियों से दवा लेना स्वीकार नहीं किया और 11 नवम्बर 1955ई. को शरीर त्याग दिया।

5.3 सोरेन किर्केगार्ड का कृतित्व

सोरेन किर्केगार्ड ने छोटी–बड़ी कई पुस्तकें लिखी हैं, जो उनके अस्तित्ववादी चिन्तन को व्यंजित करती है। किर्केगार्ड के द्वारा निम्नलिखित पुस्तकें लिखी गयी– *Eigher/or, A Fragment of life, Repetition-An Essay in Experimental Phychology, Fear and Trembling, Stages on life's way, The concept of Dread, A Fragment of Philosophy, Concluding Unscientific Postscript, Purity your Heart Works of Love The Sickness Unto death* तथा पत्रिकाएं। इसमें कुछ रचनाएँ उसने कल्पित नाम से नहीं की थी। वह कहता है कि ये मेरे बाएँ हाथ की रचनाएँ हैं। इन रचनाओं में वह सत्य तक पहुँचने का अप्रत्यक्ष प्रयत्न करता है। वह अपने को लेखकों का लेखक (Author of Authors) कहता था क्योंकि उसने कहानियाँ और लेख ही नहीं वरन लेखक भी रचे हैं। उसकी कल्पित नाम से प्रकाशित कृतियाँ प्रायः सौन्दर्य एवं कला सम्बन्धी हैं। उसने जो कुछ धर्म पर

लिखा है वह अपने नाम से प्रकाशित किया है।

5.4 सोरेन किर्केगार्ड के कृतित्व में अन्तर्निहित विचार

5.4.1 किर्केगार्ड के कल्पित लेखक मानों किर्केगार्ड के ही विभिन्न मनोभावों को व्यंजित करते हैं। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि कल्पित नाम के लेखकों के विचारों से किर्केगार्ड के विचार सदा मेल खाते हैं। फिर प्रश्न यह है कि किर्केगार्ड ने पुस्तकें लिखने का यह तरीका क्यों स्वीकार किया? इसका कारण यह है कि 'विचार' और 'कर्म' वह एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध मानता था। किर्केगार्ड के अनुसार विचार और कर्म का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। दोनों के बीच एक सेतु अवश्य है, जिसके द्वारा भावभूमि से कर्मभूमि पर पहुँचा जा सकता है। किर्केगार्ड के अनुसार यह सेतु संकल्प के अतिरिक्त कुछ नहीं है। केवल विचारों से कर्म की उत्पत्ति नहीं होती है। विचार संकल्प बनकर कर्म को प्रेरणा देते हैं। विचार कर्म नहीं है, किन्तु कर्म के लिए आवश्यक है।

5.4.2 किर्केगार्ड के रचनाओं में व्यक्त ज्ञान के प्रकार

किर्केगार्ड के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है–आवश्यक (Essential) और आकस्मिक (Accidental)। आकस्मिक ज्ञान का मानव कर्म पर कोई प्रभाव नहीं होता है। आश्यक ज्ञान जिसे यथार्थ ज्ञान कहा जाता है, कर्म का कारण बनता है। यह ज्ञान व्यक्ति की आत्मपरकता (Subjectivity) और उसके अस्तित्व से सम्बन्धित होता है। यदि अस्तित्व से तात्पर्य केवल नैतिक अस्तित्व से हो तो उसके लिए नैतिक ज्ञान ही आकस्मिक या अनावश्यक ज्ञान है। किर्केगार्ड की रुचि आवश्यक ज्ञान में थी और उसी ज्ञान को व्यक्त करने की समस्या ही उनकी प्रमुख समस्या थी। उनका यह मानना था कि आवश्यक ज्ञान को सीधे–सीधे संचरित नहीं किया जा सकता है। नीति की शिक्षा ज्यामिति की भांति नहीं दी जा सकती। नैतिक शिक्षा तभी प्रभावशाली होती है, जब वह कर्म को प्रेरणा प्रदान करे। इसलिए नैतिक शिक्षा के लिए कलात्मक विधि ही उपयुक्त विधि है। यही कारण हे कि किर्केगार्ड की प्रारम्भिक रचनाएँ कलाकृतियाँ ही हैं। इनमें ज्ञान का संचरण अप्रत्यक्ष विधि से हुआ है। इसके लेखक कल्पित नामधारी हैं वे सब किसी विशेष प्रकार के व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करत हैं। उनकी अभिव्यंजना शैली मनोवैज्ञानिक है। उनकी नामधारी रचनाओं में विशेष प्रकार के व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करने वाले एक ही प्रकार के शास्त्रतीय भाषा का प्रयोग करते हैं। इन विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के अस्तित्व से पाठक प्रभावित होते हैं। और अपने अस्तित्व को किसी पक्ष विशेष से सम्बद्ध करने की चेष्टा करते हैं।

5.4.3 ज्ञान संचरण की प्रत्यक्ष विधि का समर्थन

सोरेन किर्केगार्ड अपनी परवर्ती रचनाओं में ज्ञान संचरण की अप्रत्यक्ष विधि खण्डन करके प्रत्यक्ष विधि का समर्थन किया है। सोरेने किर्केगार्ड ने यह अनुभव किया कि पाठक

को केवल उत्तेजित कर देना ही पर्याप्त नहीं है। उसे स्वयं सत्य का साक्षी बनना पड़ेगा।यही कारण है कि उसने अपने यथार्थ नाम से ईसाई धर्म की आलोचना की। उसने स्वयं लिखा है कि –''मैंने अपने बायें हाथ से संसार को 'या तो यह या वह' (Either/or) दिया, अर्थात उसे कल्पित नाम से और ज्ञान के संचरण की अप्रत्यक्ष विधि से लिखा और अपने दाहिने हाथ से 'दो उपदेशात्मक कथोपकथन' (Two Edifying discourses) दिये।

5.4.4 दार्शनिक होने का अर्थ

किर्केगार्ड के अनुसार दार्शनिक होने का तात्पर्य अपने आपको ईश्वर की रचना (Creature of God) समझना है। कोई भी वस्तु है, इसका अर्थ है वह रची गयी है, किन्तु मनुष्य को होने का अर्थ है– ऐसी रचना जिसे सत्य को समझने की विशेष क्षमता प्राप्त हो। मनुष्य की रचना में बौद्धिकता एवं आध्यात्मिकता समाहित है। अपने सत्य स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके किर्केगार्ड ने ईसाई धर्म का सही अर्थ समझने का प्रयत्न किया है। मनुष्य को जब अपने आध्यात्मिक स्वरूप और अपने सत्ता का ज्ञान हो जाता है, तो उसी से उसे नैतिक कर्म करने की प्रेरणा मिलती है। प्रत्येक पीढ़ी में दो–चार महापुरुष ऐसे उत्पन्न होते हैं जो मनुष्य जाति के कल्याण के लिए त्याग और बलिदान करते हैं। किर्केगार्ड भी अपने को ऐसे लोगों में एक समझता है और मनुष्य मात्र से कल्याण जनित प्रेम रखते हुए उनके कल्याण के लिए ईसाई धर्म के उपदेशों को स्पष्ट करने का संकल्प करता है।

अपनी पुस्तक 'Either /or ' में किर्केगार्ड को सामने दो विकल्प दिखलाई पड़ते हैं– या तो वह ईश्वरीय नियम के अन्तर्गत हृदय से अनुशासन स्वीकार कर ले अथवा उसके विरोध में खुला संघर्ष करे। या तो ईसा के अनुकूल या प्रतिकूल सत्य को स्वीकार करे या उसका विरोध करे। रेजीना के प्रेम सम्बन्ध में पड़कर 'Either /or ' के विचार किर्केगार्ड के मन में उठे थे, किन्तु उसने अपनी पुस्तक 'Either /or ' को पूर्णतया ईसाई धर्म पर लागू करते हुए यह विचार व्यक्त किया कि या तो हम ईसाई धर्म को बिलकुल सत्य मानें या बिल्कुल मिथ्या।

5.4.5 किर्केगार्ड की अपनी रचना

किर्केगार्ड ने अपनी रचना Fear and Trembing तथा Two Edifying Discourses में सौन्दर्यात्मक एवं नैतिक जीवन अपूर्ण सिद्ध करने में व्यस्त रहा। किर्केगार्ड का मानना है कि सौन्दर्यात्मक अवस्था एवं नैतिक अवस्था में मनुष्य अपने जीवन के उच्चतर अवस्था अर्थात धार्मिक स्तर तक पहुंचने में असमर्थ है। 'Fear and Trembling' का प्रारम्भ 'Old Testament' के पदान्वय से होता है। उसमें 'Morija' पर्वत पर अब्राहम की यात्रा का वर्णन है। वहाँ उसने 'इसाक' का बलिदान किया। किर्केगार्ड ने अब्राहम को सत्य का जनक बताकर उसका अभिनन्दन किया।

5.4.6 'दृष्टिकोण (The Point of View)'किर्केगार्ड की आत्मकथा है। इसमें किर्केगार्ड के विचार परिवर्तित हो गये हैं। अब उसने सब कुछ ईश्वर को समर्पित कर दिया है। उसे यह विश्वास हो गया है कि ईसा की कृपा से उसके मन की उदासी दूर होगी।

5.4.7 सोरेन किर्केगार्ड अपनी कृति 'The Sickness Unto Death' को सर्वश्रेष्ठ धार्मिक कृति मानते हैं। इस पुस्तक में सोरेन किर्केगार्ड यह विचार व्यक्त करते हैं कि विश्वास से निराशा का रोग दूर हो जाता है। वह अनुभव करता है कि आजकल धर्म के अनुशासन की जितनी आवश्यकता है, उतनी कभी भी नहीं रही है। वह कहता है कि अब धर्म के नाम पर बड़ा भ्रम फैला हुआ है। इसे दूर करना बड़ा ही कठिन है, किन्तु उतना ही आवश्यक है।

5.5.0 सोरेन किर्केगार्ड के दार्शनिक चिन्तन के विविध पक्ष :

सोरेन किर्केगार्ड के दार्शनिक चिन्तन के दो पक्ष हैं–

(i) निषेधात्मक पक्ष एवं (ii) भावात्मक पक्ष

5.5.1 निषेधात्मक पक्ष :

सोरेन किर्केगार्ड अपने समकालीन दार्शनिक हेगल के विचारों को निदर्शनात्मक मानते हुए उसकी कड़ी आलोचना करते हैं। किर्केगार्ड का मानना है कि हेगल जगत की पूर्णतया बौद्धिक व्याख्या प्रस्तुत करने का दावा करता है, किन्तु उसकी व्याख्या से सत्ता का अवरोध संभव नहीं है। हेगल का यह मानना है कि बौद्धिकता का प्रत्येक प्रकार ''ज्ञाता'' एवं ''ज्ञेय'' के द्वैत को स्वीकार कर ही अग्रसर होता है। परन्तु मानवीय सत्यों के अवबोध के लिए प्रत्येक प्रकार के द्वैत को समाप्त करना होगा और सत्य को धारण करना होगा, उसे आत्मसात करना होगा।

5.5.2 बुद्धिवाद का प्रतिवाद :

किर्केगार्ड का यह भी मानना है कि बुद्धिवाद में बुद्धि को वाह्य के अनुरूप ही अपनी संरचना करनी पड़ती है। किर्केगार्ड के द्वारा बुद्धिवाद की इस प्रकार की प्रक्रिया की आलोचना की गयी है और कहा गया है कि इस प्रक्रिया में प्रायः आन्तरिकता की अवहेलना हो ही जाती है।

5.5.3 बुद्धिवाद अमानवीयकरण को जन्म देता है :

किर्केगार्ड का मानना है कि बुद्धि मानवीय सत्यों को पकडने में इसलिए असमर्थ है, क्योंकि वह अमानवीयकरण को जन्म देता है। ऐसा यह दो प्रकार से करता है –

(i) प्रथम यह सभी मानवीय गुणों को शुष्क बना देता है। मानवीय गुणों की अनुभूति इस

प्रकार की दृष्टि से संभव नहीं है।

(ii) अमानवीयकरण करने का दूसरा ढंग बुद्धिबाद के सार्वभौमिकता पर बल देने के कारण उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में मानव की बुद्धिवादी व्याख्या भी मानव के सार्वभौम लक्षणों पर आधारित हो जाएगी और मानव जीवन के वास्तविक सत्यों की उपेक्षा हो जाएगी। मानव की इस प्रकार की व्याख्या भीड़ वृत्ति एवं व्याख्या मात्र बनकर रह जाती है। परिणाम यह होता है कि मानव अपनी वैयक्तिक विशिष्टताओं को भूल जाता है तथा सम्प्रदाय से स्थापित नियमों को अपना भाग्य तथा जीवन मानकर उसी के अनुरूप जीवन जीने लगता है, जो एक प्रकार का अप्रामाणिक जीवन है। किर्केगार्ड कहता है कि इस प्रकार का चित्र मानव का यथार्थ चित्र नहीं है।

5.5.4 ईसाई धर्म का सम्प्रदाय बनकर रह जाना :

किर्केगार्ड का यह भी कहना है कि बुद्धिवादी प्रवृत्ति के कारण इसाई धर्म भी एक सम्प्रदाय मात्र बनकर रह गया है। चर्च के द्वारा दिये गये धार्मिक फतवे द्वारा धर्म के निर्देश चलाए जाते हैं, व्यक्ति की अपनी धार्मिक आन्तरिकता का कोई मूल्य ही नहीं, रह गया है।

5.5.5 सोरेन किर्केगार्ड का मानना है कि बुद्धिवाद वस्तुतः अवबोध चेतना, अनुभूति आदि का वास्तविक अर्थ नहीं ग्रहण कर पाता। यह इस पूर्वाग्रह से ग्रसित होता है कि मानव में अवबोध, चेतना, अनुभूति सभी ज्ञानात्मक कोटियाँ ही सब कुछ हैं और इसमें भावना संवेग, संकल्प आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अनुभूति संज्ञानात्मक अवश्य है किन्तु वह अनिवार्यतः भावनात्मक है। बुद्धिवाद अनुभूति के इस व्याख्या की उपेक्षा करता है।

5.5.6 सोरेन किर्केगार्ड के दार्शनिक चिन्तन का भावनात्मक पक्ष :

सोरेन किर्केगार्ड ने हेगल के बुद्धिवाद की आलोचना में यह पाया कि उसने 'सत' को पूर्णतया बौद्धिक मान लिया था और उसका यह दृष्टिकोण ही उसके दार्शनिक चिन्तन में मुखरित हुआ था। परन्तु किर्केगार्ड का मानना है कि 'सत' का एक और महत्वपूर्ण आयाम है, जिसकी अवहेलना करना सर्वथा अनुचित है। किर्केगार्ड के अनुसार सत्य आत्मनिष्ठ है। सोरेन किर्केगार्ड ने मानवीय चेतना के आत्मपरक सत्यता को महत्वपूर्ण मानते हुए उसके नैतिक एवं धार्मिक पक्षों को भी प्रमुखता प्रदान की है। उनका यह कहना है कि मानवीय चेतना के नैतिक एवं धार्मिक अवस्था में ही चेतना के सद्यः विकसनशील रूप का हमें जीवन्त परिचय मिलता है।

5.5.7 सत्य का अर्थ :

किर्केगार्ड का मानना है कि सत्य वही है जिसके प्रति किसी व्यक्ति के हृदय में

पूर्ण प्रतिबद्धता हो, जिससे उसका जीवन निरन्तर आलोकित एवं रूपान्तरित हो जो उसकी सम्पूर्ण जीवन शैली में निःशेष रूप से रूपान्तरित हो सके।

5.5.8 सत्य के प्रति तटस्थता से उत्पन्न भय :

किर्केगार्ड का मानना है कि सच्चाई तो यह है कि हमें अपने को समझना चाहिए। मुझे उस सत्य की खोज करनी चाहिए जो केवल मेरे लिए सत्य हो, जिसके लिए मैं जी सकूं। यदि सत्य में हमें आश्वस्त करने की शक्ति नहीं है तो वह हम में मात्र अपनी तटस्थता से भय ही का संचार कर सकता है।

5.5.9 किर्केगार्ड यह स्वीकार करते हैं कि आज के युग की यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है कि व्यक्ति कहता कुछ है और करता कुछ और ही है। जिन अवस्थाओं को वह घोषित करता है, उसके ठीक विपरीत उसका आचरण होता है। अतएव किर्केगार्ड यह प्रतिपादित करता है कि ''सत्य वह है, जो किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा मात्र सिद्धांत रूप में ही प्रतिपादित न हो, बल्कि जिसे उसने हृदय की पूर्ण प्रतिबद्धता के साथ स्वीकार किया हो और जो उसके जीवन के सभी संकल्पों के माध्यम से सदैव मुखरित होता रहे।''

5.5.10 किर्केगार्ड का अस्तित्ववादी चिन्तन :

किर्केगार्ड अपने चिन्तन में अस्तित्ववादी दृष्टिकोण का ही सम्यक रूप से प्रतिपादन करते हैं। उनका यह स्पष्ट कहना है कि अस्तित्वपरक दृष्टि को प्राप्त करना और उसे जीवन शैली के रूप में अनूदित करना ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है और इसी दृष्टि के अन्तर्गत जीवन की अन्तरंग पर्तों को उसके जीवन्त प्रवाह की अनगिनत लहरों को शब्दबद्ध करना चाहते हैं और पाठकों से संवाद स्थापित करके उन्हें भी इस दिशा में सक्रिय होने के लिए आमंत्रित करना चाहते हैं।

5.5.11 किर्केगार्ड सत्य तय करने की स्वतंत्रता को भी सभी व्यक्तियों के लिए स्वीकार करते हैं। उनका यह मानना है कि सभी अपने भीतर की प्रेरणाओं से नियंत्रित होकर जीवन का रास्ता तय करेंगे। कौन कह सकता है कि किसका रास्ता ठीक है और किसका गलत? पर इतना तो बिलकुल स्पष्ट है कि यह रास्ता विद्वानों के लिए तय करना बिलकुल कठिन है, क्योंकि बुद्धि के अनगिनत प्रयोगों के माध्यम से भी व्यक्ति ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित नहीं कर पाता है, उसकी कठिनाइयाँ उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। अस्तु किर्केगार्ड कहते हैं कि धन्य है वह व्यक्ति जो बुद्धि के प्रयोगों का परित्याग कर हृदय की सम्पूर्ण सरलता एवं प्रतिबद्धता से जीवन व्यतीत करने का संकल्प लेता है। ऐसे ही जीवन में निश्चितता है, भटकन और बेईमानी शक्ति का अपव्यय नहीं है। इसी बात को अपनी अप्रतिम शैली में व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी यही है कि मनुष्य निश्चितता के स्थान पर अनिश्चितता का वरण

करता है और अपने समय का दुरुपयोग करता है।

वास्तविकता यह है कि किर्केगार्ड अपने अस्तित्ववादी चिन्तन द्वारा यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि मानव व्यक्तित्व की जटिलता को आन्तरिक वेदना के द्वारा ही समझा जा सकता है। इस आन्तरिक वेदना के क्षेत्र में तर्क का प्रवेश नहीं हो सकता। यह वेदना आन्तरिक एवं आत्मनिष्ठ होती है। इसीलिए किर्केगार्ड कहते हैं कि व्यक्तित्व का रहस्य अन्तर्भावना एवं विवेक के अनुसार जीवन-यापन करने में निहित है।

5.5.12 किर्केगार्ड ने मानव जीवन की तीन अवस्थाओं को बताया है– सौन्दर्यात्मक, नैतिक एवं धार्मिक। किर्केगार्ड ने मावन जीवन की सौन्दर्यात्मक अवस्था के निरूपण में यह दिखलाया है कि यह अवस्था ऐन्द्रिक सुख की अवस्था है, इस अवस्था में व्यक्ति क्षणिक प्रलोभनों के सम्मुख झुक जाता है। नैतिक अवस्था सौन्दर्यात्मक अवस्था से उच्च स्तर की अवस्था है। इसमें व्यक्ति अपने शाश्वत, ऐकान्तिक मानदण्ड का अनुभव करता है, किन्तु किर्केगार्ड के अनुसार कर्त्तव्य भी पूर्णतः निरपेक्ष नहीं हो सकता। ईश्वरीय आदेश के सामने मानवीय कर्त्तव्य को भी झुकना पड़ता है। जैसे ईश्वरीय आदेश के सामने इब्राहीम ने अपने पुत्र (Issac) का बलिदान कर दिया। किर्केगार्ड के अनुसार मानव जीवन तीसरी अवस्था धार्मिक अवस्था है, जिसमें व्यक्ति ईश्वर के सामने अपनी अपूर्णता का तीव्र अनुभव करता है। इस अवस्था में व्यक्ति को अपने जीवन को पूर्णरूप से ईश्वर को समर्पित करना पड़ता है।

5.6. निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि किर्केगार्ड को अस्तित्ववादी दर्शन के प्रणयन का प्रमुख श्रेय है। उसने सर्वप्रथम जीवित मनुष्य को और उसके विभिन्न आन्तरिक भावों को दर्शन के अध्ययन का विषय बनाया और दार्शनिक चिन्तन को बिल्कुल एक नयी दिशा दी। उनका यह स्पष्ट मत है कि 'सत्य' कहीं वाह्य जगत में अन्तर्निहित नहीं है, बल्कि व्यक्ति की आत्मनिष्ठता में ही निहित है। उन्होंने दिखाया है कि चिन्ता, निराशा जीवन एवं अस्तित्व के अंग हैं। इन अनुभूतियों के साथ जीवन व्यतीत करना ही 'प्रामाणिक जीवन' है। उन्होंने चेतना के नैतिक एवं धार्मिक आयामों के सन्दर्भ में जीवन को स्वीकार किया है और उसे अपने संकल्पों के माध्यम से साकार करना ही मनुष्य के जीवन का परम श्रेयस माना है और इसी में मानव का कल्याण माना है।

5.7 सारांश :

सोरेन किर्केगार्ड के दर्शन के सामान्य परिचय के अन्तर्गत उसके अस्तित्ववादी विचारों का निरूपण किया गया है। सर्वप्रथम किर्केगार्ड के विषय में सामान्य परिचय दिया गया है और तत्पश्चात यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि किन–किन स्थितियों से गुजरने के कारण उसके अस्तित्ववादी चिन्तन का विकास हुआ। इस इकाई में यह भी

स्पष्ट किया गया है कि किर्केगार्ड के चिन्तन के दो पक्ष हो सकते हैं–निषेधात्मक एवं भावात्मक। निषेधात्मक पक्ष के अन्तर्गत वह बुद्धिवाद का प्रतिवाद करता है और भावात्मक पक्ष के अन्तर्गत उसके अस्तित्ववादी चिन्तन को वर्णित किया गया है। उसने अपने अस्तित्ववादी चिन्तन में 'सत्य को आत्मनिष्ठ माना है'। मानव स्वतंत्रता को स्वीकार किया है और मानव स्वतंत्रता को मानव अस्तित्व के ही पर्याय के रूप में ग्रहण किया है। उन्होंने जीवन की तीन अवस्थाओं –सौन्दर्यात्मक, नैतिक एवं धार्मिक अवस्था के रूप में निरूपित करते हुए धार्मिक अवस्था की महत्ता का प्रतिपादन किया है।

5.8 बोध प्रश्न :

1. किर्केगार्ड द्वारा बुद्धिवाद के विरुद्ध किये गये प्रतिवाद का विचेचन का विवेचन कीजिए।
2. किर्केगार्ड के दार्शनिक चिन्तन का सामान्य परिचय दीजिए।
3. किर्केगार्ड ने अपने अस्तित्ववादी चिन्तन में किन–किन बिन्दुओं को प्रमुखता दी है।

5.9 उपयोगी पुस्तक :

1. समकालीन पाश्चात्य दर्शन– बी.के. लाल
2. अस्तित्ववाद का पक्ष एवं विपक्ष – शान्ति जोशी

ईकाई–6 सारेन किर्केगार्ड– सत्य की आत्मनिष्ठता

(Subjectivity of Truth Soren Kierkegard)

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 सत्य की आत्मनिष्ठता

6.3 तर्कशास्त्र का सत्य व्यवहारिक सत्य नहीं है

6.4 किर्केगार्ड द्वारा वस्तगत सत्य एवं वैज्ञानिक सत्य को अस्वीकार करना।

6.5 किर्केगार्ड के अनुसार सत्य गत्यात्मक, सविशेष तथा स्थूल अस्तित्व रखता है।

6.6 किर्केगार्ड का आत्मगत चिन्तन की विधि

6.7.1 किर्केगार्ड के अनुसार मनुष्य होने का अर्थ

6.7.2 किर्केगार्ड द्वारा डेकार्ड के –''मैं सोचता हूं, इसलिए मैं हूं'' का खण्डन

6.7.3 हेगल के प्रत्ययवाद का खण्डन

6.8 किर्केगार्ड द्वारा सिद्धांत वादिता का खण्डन तथा कर्तृत्व भाव के सिद्धांत का पोषण

6.9.1 किर्केगार्ड के अस्तित्व में व्यक्ति

6.9.2 हेगल के प्रत्ययवाद में मनुष्य को नगण्य बना देना

6.9.3 किर्केगार्ड के अनुसार अस्तित्ववान व्यक्ति की परिभाषा

6.9.4 किर्केगार्ड के द्वारा व्यक्ति के अस्तित्व को आत्मसत्ता के रूप में व्यक्त करना।

6.9.5 किर्केगार्ड के द्वारा आत्मज्ञान की व्याख्या

6.10 किर्केगार्ड के अनुसार जीवन दृष्टि का मूल स्वर

6.11 निष्कर्ष

6.12 सारांश

6.13 प्रश्न-बोध

6.14 उपयोगी-पुस्तकें

6.0 उद्देश्य

– सत्य आत्मनिष्ठ है के रूप में परिभाषित करना

– 'ईश्वर' का शुद्ध मानवीय सत्य के रूपमें निरूपण किया गया है और यह दिखाया गया है कि ईश्वर अनुभूति केवल मनुष्य को होती है।

– ईश्वर का ज्ञान आन्तरिकता में ही संभव है।

6.1 प्रस्तावना

हेगल अपने बुद्धिवादी चिन्तन में सामान्य को विशेष महत्ता प्रदान की थी और सामान्य का समर्थन किया था। सोरेन किर्केगार्ड हेगेल के सामान्य का खण्डन करके अपने चिन्तन में विशेष को प्रमुखता प्रदान की। इसे किर्केगार्ड द्वारा प्रतिपादित विशिष्ट स्थितियों की अन्तरानुभूति का दृष्टिकोण कह सकते हैं। वस्तुतः किर्केगार्ड अपने चिन्तन का केन्द्रबिन्दु मनष्य को बनाया। वह मनुष्य की विचित्रता की ओर संकेत करता है। उसका समर्थन वह धर्म और ईसाईमत के माध्यम से करता है। उसका मानना था कि मनुष्य के जीवन के तीन स्तरों में प्रथम दो सुखवादिता एवं नैतिकता वाह्य वस्तुओं या व्यक्तियों से नियंत्रित होती हैं मनुष्य सुखवादी होने पर आत्मकेन्द्रित तो होता है, वह अपने सुख की इच्छा रखता है, किन्तु वह जिन भौतिक सुखों को चाहता है, वे वाह्य वस्तुओं से ही प्राप्त हो सकते हैं। इसलिए सुखवादी व्यक्ति सुखोपभोग की वस्तुओं को अधिक मूल्य देते हैं। किर्केगार्ड के अनुसार नैतिकता तो सामान्य की ही पर्याय है। इसलिए मनुष्य के अस्तित्व की रक्षा तभी हो सकती है, जब वह धर्म को अपने जीवन में आत्मसात करे। धार्मिक व्यक्ति का सम्बन्ध ईश्वर से प्रत्यक्ष रूप से होता है। ईश्वर की आज्ञा उसके संकल्प को नियंत्रित करती है और वह मनुष्य के अन्तरतम में अन्तर्निहित सत्य के रूप में अनुभूत होती है। अतएव धार्मिक व्यक्ति में एक प्रकार स्वचेतना उत्पन्न हो जाती है, जिसका मूल्य संसार के किसी व्यक्ति से अधिक होता है। धर्म परायण मनुष्य ईश्वर द्वारा नियंत्रित होने के कारण स्वार्थ परायण भी नहीं होता है। यही कारण है कि किर्केगार्ड सामान्य की उपेक्षा और विशेष का समर्थन करता हुआ 'सत्य के आत्मनिष्ठता' का प्रतिपादन करता है।

6.2 'सत्य के आत्मनिष्ठता' का तात्पर्य

किर्केगार्ड की यह मान्यता है कि 'सत्य' को 'आत्मनिष्ठता' के द्वारा ही परिभाषित किया जा सकता है। 'सत्य की आत्मनिष्ठता' के प्रतिपादन में किर्केगार्ड ने 'वैचारिक आत्म' और 'अस्तित्ववादन आत्म' में एक प्रकार का भेद है। उनका कहना है कि सामान्य प्रचलित धारणा के विपरीत यह कहा जा सकता है कि वैचारिक आत्म को सत्यों की अनुभूति नहीं हो सकती है, क्योंकि सत्य की अवधारणा नहीं बनायी जा सकती है, जब मैं

वैयक्तिक आत्म अवधारणाओं पर ही विचार करता है। यदि वैचारिक आत्म 'सत्य' का कोई चित्र प्रस्तुत करता है, तो वह वैचारिक सत् हो सकता है, वास्तववक सत् नहीं। किर्केगार्ड कहते हैं कि– ''वास्तविक सत्य की अवधारणा नहीं बनती है, उन्हें जीया जाता है, उन्हें झेला जाता है। वे कहते हैं कि हम सत्य को तब तक नहीं जान सकते जब तक कि वह मुझमें जीवंत न हो जाय।''

किर्केगार्ड ने 'सत्य की आत्मनिष्ठता' के द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि सत्य का वास्तविक स्वरूप आत्मगत चिन्तन पद्धति से ही जाना जा सकता है। इस प्रकार किर्केगार्ड ने दर्शन के क्षेत्र में एक क्रान्ति करते हुए बहिर्मुखी चिन्तन पद्धति को पूर्णतया परिवर्तित करके उसे अन्तर्मुखी बना दिया और सत्य को आत्मगत सिद्ध करने का प्रयास किया। उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि केवल बौद्धिक प्रयास न तो सत्य को जाना जा सकता है और न ही जीवन के मूल्य को जाना जा सकता है। सत्य तो आन्तरिक अनुभव की वस्तु है जो सत्य बुद्धि को नहीं, मुझे सन्तुष्ट करे वही यथार्थ है। सत्य मुझ पर बहार से लादा हुआ नहीं होता है, यह किसी वाह्य क्षेत्र से एकाएक हमारी चेतना के प्रकाश में नहीं आता। यह 'आन्तरिकता' में ही जागृत होता है, इसीलिए आत्मनिष्ठ है। किर्केगार्ड 'सत्य' को आत्मनिष्ठता के रूप में परिभाषित करते हुए कहा कि –''सत्य प्रबल रूप में भावनात्मक आत्मीयता के आत्मीयकरण की प्रक्रिया के दृढ़ावलम्बन में जकड़ी हुई वस्तुनिष्ठ अनिश्चयता है।''

6.3 तर्कशास्त्र का सत्य वास्तविक सत्य नहीं है – किर्केगार्ड 'सत्य' को आत्मनिष्ठ मानते हुए यह दिखलाते हैं। तर्कशास्त्र का सम्बन्ध हमारे व्यवहारिक जीवन के वास्तविक सत्य से नहीं है। तर्कशास्त्र हमारी बुद्धि का केवल व्यायाम होता है। इसकाा क्षेत्र सूक्ष्म, सामान्य तथा सार्वभौम सिद्धांतों में ही सीमित है। तर्कशास्त्र अमूर्त विज्ञान है। इसलिए तर्कशास्त्र का सत्य केवल आकारिक सत्य होता है और उसका वास्तविक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। किर्केगार्ड का मानना है कि हमें तर्क का पल्ला त्यागकर अपने सम्पूर्ण अस्तित्व से विचार करना होगा, व्यवहारिक जीवन के निर्णय लेने के लिए अपने चिन्तन, भावना और इच्छत के समग्र समुच्चय की अपेक्षा है। चूंकि यह निर्णय हमारी सम्पूर्ण सत्ता से लिया जाता है इसलिए यह तर्काधारित नहीं बल्कि सत्तात्मक है।

6.4 किर्केगार्ड द्वारा वस्तुगत एवं वैज्ञानिक सत्य को अस्वीकार करना

अभी तक वैज्ञानिक चिन्तन की यह मांग थी कि सत्य का स्वरूप निर्धारण करने में हमें अपनी भावना या विश्वास पर भरोसा नहीं करना चाहिए। यदि सब लोग अपने–अपने सत्य की बात कहेंगे, तो वे कभी एक निर्णय पन नहीं पहुंच सकेंगे। अतः वैज्ञानिक सत्य वही था जो दूसरों के बुद्धि को भी ग्राह्य हो। वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए यह बात अब भी सत्य है। परन्तु विज्ञानेतर क्षेत्र में वस्तुगत चिन्तन सदा उपयोगी

नहीं सिद्ध हो सकता। किर्केगार्ड ने तो इसे आध्यात्मिक आत्महनन कहा है। पूर्व प्रचलित धारणा का विरोध करते हुए उन्होंने कहा है कि 'दूसरे लोग' 'समाज' 'समुदाय' या 'मानवता' को सत्य कया निर्णायक मानना ही निराधार है। अन्य लोगों के विचार कभी एक समान नहीं हो सकते हैं। जीवन में हमें कैसे रहना चाहिए क्या करना चाहिए, इन प्रश्नों का उत्तर वस्तुगत मापदण्ड से नहीं मापा जा सकता है।

6.5 किर्केगार्ड के अनुसार सत्य गत्यात्मक, सविशेष तथा स्थूल अस्तित्व रखता है। किर्केगार्ड मानता है कि तत्वविज्ञान के सिद्धांत भी तर्क पर आधारित हैं। उसमें सूक्ष्म प्रत्यय निर्मित किए जाते हैं, जिनका सम्बन्ध स्थूल जीवन की वास्तविकता से बहुत कम होता है। किर्केगार्ड का विचार है कि काण्ट ने ठीक ही कहा था कि अपने आप में वस्तुओं को हम नहीं जान सकते, किन्तु हेगल ने संसार की सब वस्तुओं को प्रत्ययात्मक कहकर भ्रान्ति उत्पन्न कर दी। इस प्रकार तत्वशास्त्र अमूर्त विचारों के तार्किक आधार पर निर्मित एक सिद्धांत है। यह हमको उस सत्य के ग्रहण में सहायक नहीं हो सकता, जो गत्यात्मक, सविशेष तथा स्थूल अस्तित्व रखता है।

6.6 सारेन किर्केगार्ड के आत्मगत चिन्तन की विधि

सोरेन किर्केगार्ड आत्मगत चिन्तन को स्पष्ट करने के लिए साक्रेटीज के उस विचार को उद्धृत करते हैं, जिसमें उसने कहा था –'अपने आपको जानो' (Know thyself)। साक्रेटीज के सत्य के प्रति इसी अपूर्व प्रतिबद्धता को किर्कोगार्ड भी स्वीकार करते हैं और इससे भी आगे जाते हुए इस प्रतिबद्धता को उन्माद के रूप में प्रस्तुत करते हैं और इससे भी आगे जाते हुए इस प्रतिबद्धता को उन्माद के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि मनुष्य को कुछ भी बाहर से प्राप्त नहीं करना है– भीतर अपने अन्तस की गहराइयों से उसक शक्ति को प्राप्त करना है, जिसके सहारे वह अप्रतिम, लौकिक उपलब्धियों को तो प्राप्त कर ही सकता है, नैतिक धार्मिक प्रदेश का भी रास्ता तय कर सकता है।

किर्केगार्ड का कहना है कि –''यदि प्रत्येक व्यक्ति में 'सत्य' विद्यमान न होता यदि उसे उसकाा पूर्व बोध न होता, तो किसी भी प्रयास के माध्यम से उसे जानना उसके लिए संभव न होता।'' किर्केगार्ड 'सत्य' को मनुष्य के अन्तर्वर्ती के रूप में स्वीकार करते हुए कहते हैं कि 'सत्य में मैं स्थित हूं, वह मेरे भीतर ही है और हमेशा से रहा है और उसकी अभिव्यंजना भी मेरे प्रयासों द्वारा होती है।'' अपने इस कथन द्वारा किर्केगार्ड यह स्पष्ट करते हैं कि आत्मगत आन्तरिक अस्तित्व ही सत्य है।

6.7.1 किर्केगार्ड के अनुसार मनुष्य होने का अर्थ

किर्केगार्ड का मानना है कि वाह्य संसार के व्यापक ज्ञान में उलझने के बजाय हमे इस यथार्थ को समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि मनुष्य बनकर रहने का क्या अर्थ

है? 'मनुष्य बनकर रहने का अर्थ' को स्पष्ट करने के लिए किर्केगार्ड 'आकस्मिक सत्य' और 'वास्तविक सत्य' में भेद करता है। किर्केगार्ड वाह्य जगत की वस्तुओं के ज्ञान को आकस्मिक सत्य मानता है और आत्मगत सत्य को ही वास्तविक सत्य मानता है। इसलिए वह चाहता है कि हम आकस्मिक सत्य से मुड़कर वास्तविक सत्य की ओर अग्रसर हों। किर्केगार्ड के 'आकस्मिक सत्य' और 'वास्तविक सत्य' का यह भेद बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसी अवधारणा पर परवर्ती अस्तित्ववादियों ने अपनी कई प्रकार की अवधारणाएं निर्गत की हैं। हाइडेगर एवं ज्यां पाल सार्त्र के 'अप्रमाणित सत्' की अवधारणा पर परवर्ती अस्तित्ववादियों ने अपनीकई प्रकार की अवधारणाएं निर्मित की हैं। हाइडेगर एवं ज्याँ पाल सार्त्र के 'अप्रमाणित सत्' की अवधारणा किर्केगार्ड के 'आकस्मिक सत्य' एवं 'वास्तविक सत्य' के भेद पर ही आधारित है। यास्पर्स ने किर्केगार्ड के 'आकस्मिक सत्य' एवं वास्तविक सत्य के भेद से ही प्रेरित होकर वस्तुगत सत्य का विरोध किया।

6.7.2 किर्केगार्ड द्वारा देकार्त के 'मैं सोचता हूं, इसलिए मैं हूं' सूत्र का खण्डन

किर्केगार्ड के आत्मगत चिन्तन में देकार्त का सूत्र –'मैं सोचता हूं इसलिए मैं हूं (Cogito ergo sum)' बिलकुल उलट जाता है। किर्केगार्ड का मानना है कि डेकार्ट अपने अस्तित्व का अपने होने का अनुभव मूल रूप से नहीं कर सका। उसने पहले अपने विचारों को वस्तु रूप में दिखा और फिर उससे यह निष्कर्ष निगमित करता है कि उसका अस्तित्व है। किर्केगार्ड का कहना है कि यदि हम आत्मगत चिन्तन को मान्यता दें तो हमें अपना अस्तित्व निश्चित एवं वास्तविक रूप में स्वतः अनुभव होने लगेगा। किर्केगार्ड का कहना है कि यदि हम आत्मगत चिन्तन को मान्यता दें, तो हमें अपना अस्तित्व निश्चित एवं वास्तविक रूप में स्वतः अनुभव होने लगेगा। किर्केगार्ड का कहना है कि डेकार्ट को 'मैं सोचता हूं, इसलिए मैं हूं' कहने के बजाय यह कहना था कि –''मैं हू, इसलिए मैं सोचता हूं।'' किर्केगार्ड के अनुसार दार्शनिक चिन्तन करने के लिए अपने अस्तित्व को दृढ़ आधार बनाना चाहिए।

6.7.3 हेगेल के प्रत्ययवाद का खण्डन

किर्केगार्ड हेगेल के प्रत्ययवाद का खण्डन करते हुए यह कहा है कि व्यक्ति का अस्तित्व विचार में अन्तर्निहित नहीं है। किर्केगार्ड ने लिखा है कि हेगेल के प्रत्यय में 'विषयी' और विषय तथा सत्ता एवं विचार एक ही है। परन्तु वास्तविकता यह है कि अस्तित्व 'विषयी' और 'विषय' में सत्ता और 'विचार' में, 'व्यक्ति' एवं 'विचार' में भेद उत्पन्न करता है। हेगल की अवधारणा में व्यक्ति का अस्तित्व विलुप्त हो चला था। किर्केगार्ड हेगल के विरुद्ध दृढ़ता से कहता है कि –''व्यक्ति विचार करे या न करे, वह अस्तित्व अवस्य रखता है।''

किर्केगार्ड कहता है कि मनुष्य अपना अस्तित्व अपने आप अनुभव करता है, उसके

लिए उसे किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार किर्केगार्ड यह स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य का सार आत्मपरता है और आत्मपरता का सार स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व है।

6.8 किर्केगार्ड द्वारा सिद्धांतवादिता का खण्डन तथा कर्त्तव्यभाव के सिद्धांत का पोषण

किर्केगार्ड अपने अस्तित्ववाद चिन्तन में दर्शन जगत के सिद्धांतवादिता का खण्डन करता है। किर्केगार्ड कहता है कि मैं यह स्पष्ट रूप से जानता हूं कि मैं क्या करूं? मुझे इस बात की चिन्ता नहीं है कि मुझे क्या जानना चाहिए? मैं केवल ज्ञानमय जीवन के बजाय पूर्ण मानवजीवन की क्षमता चाहता हूं। किर्केगार्ड के इस दृष्टिकोण के कारण ही कभी कभी उसे सत्तात्मक फलवादी कहा जाता है। वास्तविकता यह है कि सोरेन किर्केगार्ड के अस्तित्ववाद में मनुष्य के कर्त्तृत्वभाव का पोषण किया गया है। अस्तित्ववादियों के समक्ष एक बड़ा प्रश्न है कि मनुष्य किस प्रकार का आचरण करे या मनुष्य कैसा आचरण करे जिससे वह आत्मोत्थान कर सके। किर्केगार्ड के अनुसार अस्तित्ववाद का सम्बन्ध उस सत्य से नहीं है जो मनुष्य के जीवन से दूर एक काल्पनिक संभावना मात्र है। वह तो ऐसे सत्य की खोज में है, जिससे जीवन प्रशस्त हो सके और दैनिक जीवन में सत्य परिणाम देखने को मिलने लगे। इस प्रकार किर्केगार्ड का यह मानना है कि अस्तित्ववाद का आशय यह समझना चाहिए कि वह कोई विचार या पद्धति नहीं है बल्कि क्रिया है। किर्केगार्ड का मानना है कि सिद्धांतवादी अतीत के तथ्यों से सिद्धांत निर्मित करते हैं। व्यवहार और कर्म में विश्वास रखनेवाले लोग भविष्य को दृष्टि में रखते हए वर्तमान समय को कर्म में नियोजित करते हैं।

6.9.1 किर्केगार्ड के अस्तित्व में व्यक्ति

सोरेन किर्केगार्ड के अस्तित्ववादी चिन्तन का केन्द्र बिन्दु को माना है। किर्केगार्ड के जीवन काल में आज की तरह जन–समूह को प्रधानता दी जाती थी। बच्चों की तरह लोग भीड़ का अनुकरण करते थे। भीड़ में प्रत्येक व्यक्ति अपने को सब में सम्मिलित देखना चाहता है। समूह की पूर्णता और विशालता में वह स्वयं को धोखा देना चाहता है। किर्केगार्ड का अपने युग के विषय में यह कहना था कि आजकल के युग में कोई भी व्यक्ति अपनी सत्ता का अनुभव करते हुए उसमें केन्द्रित नहीं रहना चाहता हें व्यक्तिगत सत्ता में सीमित रहने वाले व्यक्ति को भय रहता है कि वह संसार में अपना कोई चिन्ह छोड़े बिना ही विलुप्त हो जाएगा।इतिहास में उसका कोई स्थान न होगा। व्यक्ति की यह स्थिति होते हुए भी यथार्थता यह है कि मनुष्य अपने प्रामाणिक अस्तित्व का अनुभव तभी कर सकता है जब वह संसार से अपने सम्बन्ध को विच्छिन्न करके एकाकी (अकेलेपन) में अपने को समझने का प्रयत्न करे। अपने अस्तित्व की प्रामाणिकता का अनुभव करने में दसूरे व्यक्ति या संसार काई सहायता नहीं कर सकता। व्यक्ति एवं समूह दो विरोधी

दिशाएं हैं और संसार भी समूह की ही भांति व्यक्ति का विरोधी है।

6.9.2 हेगेल के प्रत्ययवाद में मनुष्य को नगण्य बना देना –

सारेन किर्केगार्ड का यह मानना है कि हेगेल जिस निरपेक्ष सत् का प्रतिपादन करता है वह अपने आपको जगत तक रूप में अभिव्यक्त करके सब कुछ ईश्वर मय कर देता है। यह कितनी विचित्र बात है कि व्यवहार में हम देखते हैं कि व्यक्ति का अस्तित्व नगण्य है, किन्तु हेगेल उसे ईश्वर समझता है। किर्केगार्ड इसे बाल क्रीड़ा समझता है और कहता है कि –''आओ हम लोग ईश्वर बनने का खेल छोड़कर वास्तविक मानन बनने के गाम्भीर्य कार्य में निरत हों।'' किर्केगार्ड के अस्तित्ववादी दर्शन का केन्द्रबिन्दु यही व्यक्ति का अस्तित्व है। किर्केगार्ड का मानना है कि जब तक मनुष्य अपने अस्तित्व की अनुभूति प्राप्त नहीं करता वह अपूर्ण मानव है। व्यक्ति अपने अद्वितीय व्यक्तित्व को समूहमें खोकर पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता। किर्केगार्ड के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति एक मानव है, किन्तु एक मनुष्य की वैयक्तिकता अन्य सभी मनुष्यों से भिन्न और विचित्र है। इस वैयक्तिक विचित्रता का अनुभव प्राप्त करना एक महत्वपूर्ण कार्य है। किर्केगार्ड के शब्दा में, '' वह व्यक्ति जो वास्तव में अस्तित्ववाद है, पूर्ण व्यक्ति है। उसके समान कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है, फिर भी वह एक सामान्य मानव है।

6.9.3 किर्केगार्ड के अनुसार अस्तित्ववान व्यक्ति की परिभाषा

किर्केगार्ड अस्तित्ववाद व्यक्ति की परिभाषा देते हुए लिखता है कि अपने आप में घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध व्यक्ति ही अस्तित्ववान है। वह (अस्तित्ववान व्यक्ति) अपने आप से तथा अपने भविष्य से सर्वाधिक लगाव रखता है। अपने प्रामाणिक अस्तित्व को प्राप्त करने की जिज्ञासा से वह जीवन मार्ग निश्चित करता है। उसके लिए वही बात महत्व की होती है जो उसके अस्तित्व से सम्बन्ध रखती है। किर्केगार्ड का कहना है कि शाश्वत आनन्द का पुरस्कार उन्हीं लोगों के लिए है जो आत्मनिष्ठ हैं और अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाये हुए हैं।

6.9.4 किर्केगार्ड द्वारा व्यक्ति के अस्तित्व को आत्मसत्ता के रूप में व्यक्त करना

किर्केगार्ड ने अपने दर्शन में व्यक्ति के अस्तित्व को आत्मपरक सत्ता के रूप में व्यक्त किया है। पाश्चात्य दर्शन में 'आत्म पद' का प्रयोग प्रायः ज्ञाता के अर्थ में किया जाता है, किन्तु किर्केगार्ड ज्ञाता की इस स्थिति को आत्मनिष्ठता के अर्थ में ग्रहण करते हुए इसका अर्थ 'स्वचेतन व्यक्ति की स्थूल सत्ता' माना है। उनका कहना है कि स्वचेतन व्यक्ति की इसी स्थूल सत्ता को आत्मनिष्ठता या अस्तित्व कुछ भी कहा जा सकता है। किर्केगार्ड के अनुसार आत्मसत्ता का तात्पर्य है – व्यक्ति विशेष का पूर्ण अस्तित्व।

6.9.5 किर्केगार्ड द्वारा आत्मज्ञान की व्याख्या

व्यक्ति विशेष के अस्तित्व के ज्ञान को ही किर्केगार्ड आत्मज्ञान कहता है। उसने यह स्पष्ट कह दिया है कि यह ज्ञान मनोविज्ञान के आत्मचिन्तन से भिन्न है। आत्मचिन्तन में यद्यपि अपने ही विचारों का चिन्तन किया जाता है किन्तु उसमें विषयापेक्षा फिर भी बनी रहती है। विषयगत चिन्तन में हम संसार की वाह्य वस्तुओं पर विचार करते हैं और इस प्रकार के आत्मचिन्तन में हमारे चिन्तन का विषय वाह्य संसार में न होकर हमारे अंदर ही होता है। चाहे आत्मचिन्तन को चाहे विषयगत चिन्तन दोनों में ही वैषयिकता स्पष्ट बनी रहती है। किर्केगार्ड जिस आत्मज्ञान की बात करता है, उसमें वैषयिकता बिल्कुल नहीं रहती है। इस ज्ञान में बहुत गम्भीरता और गहना है। इसे और स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हुए यह कहा जा सकता है कि इस ज्ञान में ज्ञातृत्व की अपेक्षा कर्तृत्व अधिक है। आत्मचेतना विकसित होकर जीवन का आदर्श प्राप्त करना चाहती है।

6.10 किर्केगार्ड के अनुसार जीवन दृष्टि का मूल स्वर

'सत्य आत्मनिष्ठ है' (Truth is Subjective) इस बात को सोरेन किर्केगार्ड अनेक सन्दर्भों में स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं। अब तक विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि 'सत्य की आत्मनिष्ठता' के द्वारा किर्केगार्ड यह स्पष्ट करते हैं कि सत्य को हम वस्तुपरक दृष्टि से रूपायित नहीं कर सकते हैं, किन्तु उसे हृदय की पूर्ण प्रतिबद्धता के माध्यम से, अपने संकल्प एवं कार्यशैली के माध्यम से जो रूप प्रदान करते हैं वही हमारे लिए मारने रखता है और उसे ही हम अपने व्यक्तित्व के सत्य के रूप में जीते हुए संसार के समक्ष प्रस्तुत कर सकते हैं। किर्केगार्ड सत्य की आत्मनिष्ठता के द्वारा मानवीय जीवन के उस प्रामाणिकता की चर्चा करते हैं जो परवर्ती अस्तित्ववादियों के चिन्तन का प्रमुख केन्द्र बिन्दु रहा है। सर्वप्रथम किर्केगार्ड ने ही हमारे समक्ष इस बात को रखने की चेष्टा की कि मानवीय व्यवहार सही अर्थों में तभी स्वतंत्र हो सकता है जब उसे अपनी दिशाओं के चयन की स्वतंत्रता हो। इसी के साथ उन्होंने यह बात भी जोड़ी कि दिशा एक नहीं हो सकती है और यह भी कि यदि हृदय की पूर्ण प्रतिबद्धता के साथ इनमें से किसी व्यक्ति द्वारा किसी का भी चुनाव किया जाय तो वह चुनाव उतना ही प्रामाणिक होगा जितना कि कोई दूसरा चुनाव। उन्होंने यह विचार व्यक्त किया है कि हमें किसी एक ऐसे प्रतिमान के द्वारा जो किसी एक व्यक्ति के जीवन शैली के स्वरूप को निर्धारित करता है, उस प्रतिमान के आधार पर किसी दूसरी जीवन शैली को अस्वीकार करने कोई अधिकार नहीं है। जो व्यक्ति नैतिक जीवन व्यतीत करने का कोई अधिकार नहीं है। जो व्यक्ति नैतिक जीवन व्यतीत करने का संकल्प लेता है, उसका निश्चय उतना ही श्लाघनीय है जितना कि उसका जिसने हृदय की पूर्ण सच्चाई के साथ धार्मिक अथवा सौन्दर्यपरक जीवन शैली को स्वीकार करने का निर्णय लिया है।

6.11 निष्कर्ष

निश्कर्षतः कहा जा सकता है कि सोरेन किर्केगार्ड ने 'सत्य की आत्मनिष्ठता' के द्वारा अपने अस्तित्ववादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया हैं उनके अस्तित्वपरक दृष्टि की यही विशेषता है कि वह जानने की अपेक्षा संकल्प को यानी करने को अधिक महत्व देती है। किर्केगार्ड मनुष्य के ऐसे संकल्प को विशेष महत्ता दिया है जो उसकी अस्मिता की पहचान कराने की शक्ति रखता हो और यदि धार्मिक पदावली में इसे व्यक्त किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि जो हमें ईश्वर साक्षात्कार करने की शक्ति रखता है। वास्तविकता यह है कि किर्केगार्ड ने अपने अस्तित्ववादी दर्शन में 'सत्य की आत्मनिष्ठता' के द्वारा यह दिखाया है कि व्यक्ति के निजी जीवन की संभावनाएं उस व्यक्ति के लिए विशेष महत्व रखती हैं। कोई 'संभावना'जीवन के लिए कितनी महत्पूर्ण है–इस प्रश्न का उत्तर किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा मिल सकता है, जिसने उस संभावना को यथार्थ करने की चेष्टा की है अथवा उसे अस्वीकार करके उसकी महत्ता के विपरीत साक्ष्य प्रस्तुत किया है और यह साक्ष्य भी उसने किस प्रकार स्वीकार किया है– हृदय की पूर्ण प्रतिबद्धता के साथ या काम चलाऊ तरीके से उसे स्वयं ही प्रस्तुत करना होगा। कोई भी दूसरा व्यक्ति उसके हृदय की प्रतिबद्धता को परोक्ष रूप से ही जान सकता है। हृदय का हृदय से सीधा या अपरोक्ष सम्बन्ध संभव नहीं है।

ईसाई धर्म की स्वीकृति के सम्बन्ध में भी किर्केगार्ड इसी दृष्टि को महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार ईसाई धर्म की प्रामाणिकता का साक्ष्य भी स्वयं व्यक्ति को ही प्रस्तुत करना पड़ेगा। उसे पूर्ण सच्चाई के साथ, हृदय की तलीय गहराइयों में उतरते हुए यह देखना होगा कि क्या ईसाई धर्म की अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए वह सचमुच में कृत संकल्प हो सका हैं अन्य शब्दों में उस धर्म की स्वीकृति अस्वीकृति इस बात पर निर्भर नहीं करती कि हम नियमित रूप से चर्च जाते हैं या नहीं, बल्कि इस एक बात पर निर्भर करती है कि हम क्राइस्ट के व्यक्तित्व को कितनी प्रतिबद्धता के साथ, कितने समर्पित भाव से जी रहे हैं। दूसरे शब्दों में हम अदृश्य चर्च की अपेक्षाओं को किस प्रकार अपने जीवन में उतारने का प्रयास कर रहे हैं। यदि उत्तर स्वीकारात्मक है तभी हमें इस बात का दावा करना चाहिए कि हम सही अर्थों में ईसाई हैं, यन्यथा नहीं। इस प्रकार का अशेष समर्पण ही हमारी धार्मिकता की सही पहचान है और इसका साक्ष्य भी हमें स्वयं ही रूपान्तरित होकर प्रस्तुत करना पड़ेगा। हमारी जगह कोई और व्यक्ति किस प्रकार इस साक्ष्य को जुटा सकता है? इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हृदय के अशेष समर्पण एवं प्रतिबद्धता को किर्केगार्ड 'सत्य' की संज्ञा देते हैं और इसीलिए उनका यह कथन कि 'सत्य आत्मनिष्ठता है' विशेष सन्दर्भमें सार्थकता रखता है।

6.12 सारांश

'सत्य आत्मनिष्ठता है' को किर्केगार्ड स्पष्ट करते हुए यह दिखलाते हैं कि सत्य को वैचारिक रूप से नहीं जाना जा सकता है। सत्य प्रबल रूप में भावनात्मक

आन्तरिकता के आत्मीयकरण प्रक्रिया के दृढ़ावलम्बन में जकड़ी हुई अनिश्चयता है। हमें सत्य को जानने की कोशिश न करके सत्य को जीने की, अपने में आमूल रूप से रूपान्तरित करने की कोशिश करने में ही अनुभूति हो सकती है। किसी भी व्यक्ति को सबसे महत्वपूर्ण निर्णायक क्षण वह होता है जहां से आस्था के तहत जीवन व्यक्ति करने का वह संकल्प लेता है। और निरन्तर इसी आस्था से पोषित उसका जीवन समृद्ध और उन्नत हो जाता है।

6.13 बोध प्रश्न

1–'सत्य आत्मनिष्ठता है' किर्केगार्ड के इस कथन की व्याख्या कीजिए।

2– किर्केगार्ड ने हेगेल के विरुद्ध जिन आपत्तियों को उठाया है, उसकी व्याख्या कीजिए।

3– किर्केगार्ड के अनुसार 'मनुष्य होने' का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

6.14 उपयोगी पुस्तकें

1–अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक –लक्ष्मी सक्सेना, सभाजीत मिश्र

2– समकालीन पाश्चात्य दर्शन – बी.के. लाल

3– Existentialism as a Philosophy- Fernando

ईकाई –7 सारेन किर्केगार्ड– मानव अस्तित्व की तीन अवस्थाएं

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 मानव अस्तित्व की अवस्थाएं अस्तित्व के विकास के तीन विकल्प हैं

7.3 मानव अस्तित्व तीन अवस्थाएं मानव जीवन के तीन स्तर हैं

7.4 सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार सौन्दर्यशीलता की अवस्था तात्कालिकता की अवस्था है

7.4.1 सौन्दर्यात्मक अवस्था के तीन लक्षण – तात्कालिकता, संशय और नैराश्य

7.4.2 तात्कालिकता

7.4.3 संशय

7.4.4 नैराश्य

7.5 सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार सौन्दर्यात्मक अवस्था सुख के विभिन्न रूप हैं।

7.5.1 सुख की इच्छा रखने वाले तात्कालिक सुख को महत्ता देते हैं

7.5.2 सुखवादियों का जीवन आत्मनियंत्रित नहीं होता

7.5.3 सुख का अनिश्चित होना

7.6 सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार मानव अस्तित्व की नैतिक अवस्था

7.6.1 सोरेने किर्केगार्ड के अनुसार नैतिक व्यक्ति कर्तव्य परायण होता है

7.6.2 नैतिकता की अवस्था अपने से अन्य को सम्बद्ध करने की अवस्था है

7.7 सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार मानव अस्तित्व की धार्मिक अवस्था

7.7.1 किर्केगार्ड की धार्मिकता ईसाई धर्म की प्रचलित धार्मिकता से भिन्न थी

7.7.2 किर्केगार्ड का प्रश्न– ''मैं ईसाई कैसे बनूं।''

7.7.3 सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार मानव अस्तित्व की धार्मिक अवस्था नैतिकता से सोद्देश्य ऊपर उठने की प्रक्रिया है।

7.8 निष्कर्ष

7.9 सारांश

7.10 बोध प्रश्न

7.11 उपयोगी पुस्तकें

7.0 उद्देश्य

- सोरेन किर्केगार्ड ने 'मानवीय सत्य आन्तरिकता में अन्तर्निहित है' को स्पष्ट करने के पश्चात् यह दिखलाया है कि मानव अस्तित्व के आन्तरिक विकास में कुछ विकल्प उपस्थित होते हैं, जिनके चयन के द्वारा ही उसका जीवन अस्तित्व का रूप लेता है।
- मानव अस्तित्व में उपस्थित यह विकल्प तीन प्रकार का है–सौन्दर्यात्मक, नैतिक एवं धार्मिक।
- मानव अस्तित्व में उपस्थित ये विकल्प बदलाव के क्रम को व्यक्त करते हैं।
- मानव अस्तित्व चिन्ता एवं अस्पष्ट भय से ग्रसित है।

7.1 प्रस्तावना

सोरेन किर्केगार्ड ने 'मानवीय सत्य आन्तरिकता में है' का निरूपण करने के पश्चात् यह स्पष्ट करते हैं कि मानव अस्तित्व के विकास में मनुष्य के अन्दर कुछ विकल्प उपस्थित है, जिन विकल्पों में से उसे कुछ चयन करना पड़ता है तथा उसके इसी चयन के अनुरूप उसका जीवन अस्तित्व का रूप लेता है। किर्केगार्ड के अनुसार मनुष्य अन्दर उपस्थित ऐसे अस्तित्वमूलक विकल्प तीन रूपों में संभव है, जो इस प्रकार है– सौन्दर्यात्मक (Aesthetic), नैतिक (Ethical) एवं धार्मिक (Religious)। मनुष्य के अन्दर उपस्थित इन तीनों प्रकार के अस्तित्व मूलक विकल्पों को किर्केगार्ड 'अस्तित्व की अवस्थाएं' (Spheres of Existance) कहकर इसका निरूपण किया है। अस्तित्व की अवस्थाओं को ही किर्केगार्ड 'जीवन के तीन स्तर' (Three Stage of Life) भी कहा है।

किर्केगार्ड द्वारा 'अस्तित्व की अवस्थाओं' के निरूपण के विषय यह संशय होना स्वाभाविक है कि यदि ये जीवन के स्तर हैं, तो क्या इन स्तरों का कोई क्रम है? यदि इन अस्तित्व की अवस्थाओं का कोई क्रम है तो इन्हें अस्तित्व की अवस्थाएं नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मानव अस्तित्व की अवस्थाओं में कोई क्रमिक सम्बन्ध नहीं होता है, वे एक साथ ही रह सकती हैं, क्योंकि वे अस्तित्व के मात्र तीन विकल्प हैं किर्केगार्ड के मानव अस्तित्व की तीन अवस्थाओं के विषय में उत्पन्न इस प्रकार के संशय का निराकरण उनके मन्तव्य के स्पष्ट होने पर हो जाता है।

7.2 मानव अस्तित्व की अवस्थाएं अस्तित्व के विकास के तीन विकल्प हैं –

सोरेन किर्केगार्ड मानव अस्तित्व के तीन अवस्थाओं के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए यह कहा है कि ये मानव अस्तित्व की तीन अवस्थाएं इसलिए हैं, क्योंकि ये मानव अस्तित्व के विकास के लिए उसके समक्ष उपस्थित तीन विकल्प है। उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि ऐसा नहीं है कि मनुष्य पहले सौन्दर्यात्मक स्तर पर रहता है और

उसी क्रम में उसका जीवन अग्रसर होता है। उनका यह कहना है कि मानव अस्तित्व की ये तीन अवस्थाएं मनुष्य में विद्यमान तीन प्रकार की अवस्थाएं हैं, इनमें से मनुष्य जिसका चुनाव करता है, उसी के अनुरूप उसका अस्तित्व रूप ग्रहण करता है। मानव अस्तित्व में विद्यमान इन तीन प्रकार की संभावनाओं के लिए यह आवश्यक नहीं है कि एक विकल्प के उपस्थित होने पर दूसरा विकल्प नहीं हो सकता। किर्केगार्ड स्वीकार करते हैं कि कोई भी व्यक्ति से संवेदनशीलता या सौन्दर्यशीलता के स्तर पर है किसी क्षण नैतिक भी हो सकता है तथा किसी अन्य क्षण में धार्मिक भी। किर्केगार्ड यह कहते हैं कि नैतिकता के जीवन का यह अर्थ नहीं है कि उस अवस्था में सौन्दर्यशीलता पूर्णतया समाप्त हो गयी है।

इस प्रकार किर्केगार्ड यह मानते हैं कि मानव के समक्ष जो विकल्प हैं, उन्हें सामान्य रूप में तीन अवस्थाओं में ही रखा जा सकता है और उनके सम्बन्ध में किसी एक प्रवृत्ति की प्रधानता के ही आधार पर यह कहा जा सकता है कि अनुक व्यक्ति सौन्दर्यशीलता की अवस्था में है या नैतिकता या धार्मिकता। किर्केगार्ड का यह कहना है कि किसी अवस्था में अन्य अवस्थाओं की प्रवृत्तियां भी दिखायी दे सकती हैं। इस प्रकार मानव अस्तित्व की तीन अवस्थाओं में न तो किसी एक अवस्था के रहने पर अन्य अवस्थाओं का रहना असंभव है और न ही एक अवस्था से दूसरी अवस्था की ओर अग्रसर होने का कोई क्रम है। मानव अस्तित्व में विद्यमान इन तीन संभावनाओं के विकल्प के अस्तित्व को किसी रूप में बदल सकता है।

7.3 मानव अस्तित्व तीन अवस्थाएं मानव जीवन के तीन स्तर हैं–

सोरेन किर्केगार्ड के मानव अस्तित्व की तीन अवस्थाओं को एक विशेष अर्थ में 'जीवन के तीन स्तर' (Three Stage of life) भी कहा जा सकता है। कोई भी व्यक्ति सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति से युक्त है या नैतिक या धार्मिक, यह उसके अन्दर विद्यमान विकल्पों की प्रधानता पर निर्भर करता है। परन्तु यदि इसे मान लिया जाये तो यह भी मानना पड़ेगा कि व्यक्तियों के समक्ष ऐसे अवसर आते हैं जब उसके जीवन में किसी एक प्रवृत्ति की प्रधानता होती है। परन्तु यदि सावधानीपूर्वक इस पर विचार किया जाय, तो यह स्पष्ट होता है कि– ऐसा नहीं होता है कि जिस व्यक्ति के जीवन में धार्मिक प्रवृत्तियों की प्रधानता हो गई है, उसमें पुनः सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति की प्रधानता न हो।

किर्केगार्ड कहते हैं कि ऐसा हो सकता है कि किसी व्यक्ति में सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति की प्रधानता हो किन्तु बाद में उसमें सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति के स्थान पर धार्मिक प्रवृत्ति की प्रधानता हो जाए। इसी तथ्य के आधार पर किर्केगार्ड कहते हैं कि एक अवस्था से दूसरी अवस्था में 'बदलाव' के इस क्रम को देखने पर यह प्रतीत है कि प्रत्येक अवस्था का दूसरी अवस्था में बदलाव संभव है और इस बदलाव संभव है और इस बदलाव में एक क्रम है। इस क्रम में सबसे पहले सौन्दर्यात्मक क्रम है, उसके बाद नैतिकता है, तथा

नैतिकता के पश्चात् धार्मिकता है। इस दृष्टि से मानव अस्तित्व की इन तीन अवस्थाओं को 'जीवन का स्तर' भी कहा जा सकता है। किन्तु उपर्युक्त प्रकार के विचार व्यक्त करने के पश्चात श्री किर्केगार्ड कहते हैं कि यह अनिवार्य नहीं है कि इसी क्रम से प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में बदलाव हो। परन्तु सौन्दर्यशीलता के स्तर से नैतिकता के स्तर में परिवर्तन तथा नैतिकता के स्तर से धार्मिकता के स्तर में परिवर्तन में कुछ क्रम स्पष्ट होते हैं जिन क्रमों की व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि कुछ उपादानों के प्रकट होने पर सौन्दर्यशीलता के स्तर से नैतिकता के स्तर में, और फिर नैतिकता के स्तर से धार्मिकता के स्तर में बदलाव होता है।

7.4 सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार सौन्दर्यशीलता की अवस्था तात्कालिकता की अवस्था है –

सोरेन किर्केगार्ड मानव अस्तित्व के तीन विकल्पों में सौन्दर्यशीलता की अवस्था को तात्कालिक (Immediacy) की अवस्था कहा है इस अवस्था में व्यक्ति अपने तात्कालिक सम्पर्क की वस्तुओं में जीता है सौन्दर्यशीलता की अवस्था में व्यक्ति वर्तमान में जीता है। इस अवस्था में मनुष्य का लक्ष्य इन्द्रियजन्य संवेदनाओं की तृप्ति करना है। अतः इस अवस्था में मनुष्य में सुखभोग की प्रवृत्ति उसका सबसे प्रमुख प्रेरक बन जाती हैं। इस अवस्था में मनुष्य उन्हीं वस्तुओं में अभिरुचि लेता है, वैसे ही तत्वों के सम्पर्क में आता है, जिससे उसे वैयक्तिक सुख मिले। इस अवस्था में सुख प्राप्त करना ही मनुष्य के जीवन का लक्ष्य बन जाता है। मनुष्य इस अवस्था में शारीरिक कष्ट, दुःख आदि से यथा संभव बनने की कोशिश करता है। वह सुख, ऐश्वर्य आदि के साधनों को एकत्रित करता रहता है, तो इसे ही जीवन का सर्वोपरि कार्य समझ लेता है।

इस प्रकार के सुख की प्राप्ति में संलग्न मनुष्य के विषय में किर्केगार्ड का कहना है कि इस प्रकार का जीवन जीते–जीते मनुष्य में अपने आप एक प्रकार की विरक्ति उत्पन्न होने लगती है, वह सुखभोग के प्रयत्नों से ऊबने लगता है। उसे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि अब तक जिस सुख की खोज में लगा था, उसके स्थान पर उसे एक विचित्र निराशा की ही प्राप्ति हुई है। इसी कारण इस सौन्दर्यात्मक अवस्था के निरूपण में किर्केगार्ड ने यह पाया कि इसके भी तीन लक्षण हैं– तात्कालिकता संशय तथा नैराश्य।

7.4.1 सौन्दर्यात्मक अवस्था के तीन लक्षण– तात्कालिकता, संशय और नैराश्य–

सोरेन किर्केगार्ड सौन्दर्यात्मक अवस्था के निरूपण में यह पाया कि जब व्यक्ति सुखोपभोग के उपादानों की प्राप्ति में लगा होता है, तो उसे इस बात का भी अवबोध कुछ समय बाद होने लगता है कि जीवन में सुखों के उपादानों की प्राप्ति ही सब कुछ नहीं है और यह विरक्ति उसमें तात्कालिकता नैराश्य एवं संशय जैसी प्रवृत्तियों को जन्म देती है।

7.4.2 तात्कालिकता

सोरेन किर्केगार्ड ने तात्कालिकता से तात्पर्य उस सौन्दर्यात्मक अवस्था से बताया है जिसमें व्यक्ति अपने तात्कालिक संपर्क की वस्तुओं के साथ जीता है वर्तमान में जीता है। तत्कालिकता को स्पष्ट करने के लिए सोरेन किर्केगार्ड एक ऐतिहासिक पात्र के चरित्र का उल्लेख करता है। किर्केगार्ड का कहना सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति से युक्त व्यक्ति प्रारम्भ में Don Juan होता है, अतः सुखबोध की प्रवृत्ति को अनियंत्रित छूट दिये रहता है। सुख के पीछे उन्मत्त होकर दौड़ते रहने के कारण उसे यह आभास होता है कि क्या यह सब निरर्थक नहीं है? इस प्रकार के निरर्थकता के बोध से मनुष्य में सुखोपभोग के प्रति संशय उत्पन्न होता है।

7.4.3 संशय

सोरेन किर्केगार्ड का यह मानना है कि सुखोपभोग की निरर्थकता का बोध मनुष्य में संशय को उत्पन्न करता है किर्केगार्ड ने तात्कालिकता को स्पष्ट करने के लिए जिस ऐतिहासिक चरित्र के मनुष्य Don Juan का उल्लेख किया था वह Don Juan संशय की स्थिति में पहुंचाने पर अब बनकर Faust उभरता है।

7.4.4 नैराश्य

मनुष्य में उत्पन्न संशय उसमें नैराश्य को जन्म देता है उसे प्रतीत होता है कि जिस सुखभोग के पीछे वह पागल था वह भी उसे उपलब्ध नहीं है। इस 'नैराश्य' की स्थिति को सूचित करने के लिए किर्केगार्ड ऐतिहासिक चरित्र के घुमक्कड़ यहूदी Ashasenrus को प्रतीक बनाते हैं। इस 'नैराश्य' को वे 'सौन्दर्यात्मक नैराश्य' (Aesthetic Despair) कहते हैं और मानते हैं कि इस स्थिति की परिणति इस प्रकार के नैराश्य में ही होती है।

7.5 सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार सौन्दर्यात्मक अवस्था सुख के विभिन्न रूप हैं।

सारेन किर्केगार्ड के अनुसार सौन्दर्यात्मक अवस्था सुखोपभोग की इच्छा रखने वाले सभी लोग एक से नहीं होते हैं। उनकी सुख लिप्सा भी विभिन्न प्रकार की हो सकती है। उनमें से साधारण व्यक्ति जिनकी रुचि परिमार्जित नहीं है, 'सुख के लिए जीवित' रहते हैं। शिक्षित एवं परिमार्जित रुचि वाले व्यक्ति जीवन में तुष्टि और बौद्धिक विकास से प्राप्त होने वाले सुखों की चाह रखते हैं। ऐसे लोग कवि, कलाकार, साहित्यकार संगीतज्ञ आदि बन बैठते हैं। इस प्रकार सुख की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों का सुख एक ही प्रकार का नहीं हो सकता है।

7.5.1 सुख की इच्छा रखने वाले तात्कालिक सुख को महत्ता देते हैं–

सोरेन किर्केगार्ड का मानना है कि प्रायः सुख चाहने वाले व्यक्ति तत्काल प्राप्त होने वाले सुख में विश्वास करते हैं। ऐसे व्यक्तियों का सुख क्षणिक होता है। उन्हें एक वस्तु से थोड़ी देर ही सुख मिलता है। दूसरे क्षण या थोड़ी ही देर में उन्हें दूसरी वस्तु की इच्छा होने लगती है। इस प्रकार उन्हें परिवर्तन एवं विभिन्नता में सुख मिलता है। स्वभावतः उनकी एक ही प्रकार के सुख में संतुष्टि नहीं मिल सकती हैं ऐसी स्थिति में सुख चाहने वाले व्यक्ति का जीवन विभिन्नता में खो जाता है। किर्केगार्ड ऐसे व्यक्तियों का जीवन 'विखण्डित' मानता है।

7.5.2 सुखवादियों का जीवन आत्मनियंत्रित नहीं होता

सोरेन किर्केगार्ड का यह मानना है कि सुखवादियों का जीवन आत्म नियंत्रित नहीं होता है। वे विवेपूर्वक जीवन मूल्य निर्धारित नहीं करते हैं। वस्तुतः वे सुख देने वाले वस्तुओं से प्रभावित एवं संचालित होते हैं। उन वस्तुओं पर उनका नियंत्रण नहीं होता है वे बुद्धि के बजाय भावना से संचालित होते हैं। उनके द्वारा बुद्धि की उपेक्षा करने के कारण उनका संकल्प भी निर्बल हो जाता है। उनमें निर्ण लेने और निर्णय पर दृढ. रहने की क्षमता का अभाव होता है।

7.5.3 सुख का अनिश्चित होना–

सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार सुख प्राप्ति की कोई निश्चित संभावना नहीं रहती है। यह निश्चित नहीं है कि सुख कब प्राप्त हो। सुख प्राप्त होने पर भी सदा संतुष्टि नहीं मिलती है। प्रायः देखने में आता है कि जितना सुख प्राप्त होता है, उससे अधिक प्राप्त करने की इच्छा बनी रहती है। इस प्रकार के सुख के साथ अकुलाहट बेचैनी, व्यग्रता, उदासीनता, नैराश्य आदि भाव दुःख के रूप में बने रहते हैं। जब इस ओर व्यक्ति का ध्यान जाता है तो तात्कालिक सुखों के निरर्थकता दिखायी पड़ने लगती है। ऐसे समय यदि मनुष्य को जीवन का नया रास्ता दिखायी दे जाता है तो मनुष्य उस ओर मुड. जाता है, अन्यथा अपने आप से और अपने जीवन से बड़ी निराशा होती है। निराशा सुखवादी जीवन का अन्तिम छोर है। वहां से जीवन का मार्ग बदल जाता है।

जीवन के प्रारम्भ में सुख का आकर्षण स्वाभाविक होता है, उसका अनुभव करने पर ही निराशा उत्पन्न होती है। वास्तविकता यह है कि सुखवादियों के सामने जीवन का समग्र रूप नहीं आता है। सुख के साथ–साथ मानव जीवन में दुःख, रोग–दोष, दरिद्रता इत्यादि उसके जीवन के यथार्थ के रूप में जुड़े होते हैं जिसकी सुखवादी उपेक्षा करते हैं। इस उपेक्षा का परिणाम यह होता है कि सुखोपभोग की इच्छा रखने वाले मनुष्य को न तो जीवन का यथार्थ समझ में आता है और न ही अपने अस्तित्व के सौन्दर्यात्मक अवस्था का विवेचन करके किर्केगार्ड इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि केवल सुखोपभोग की

इच्छा से कर्म करने वाले मनुष्य एवं समाज को अन्ततः दुःख एवं नैराश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा।

7.6 सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार मानव अस्तित्व की नैतिक अवस्था

सारेन किर्केगार्ड का मानना है कि मानव अस्तित्व की सौन्दर्यात्मक अवस्था में पायी जाने वाली कमियां नैतिक अवस्था में दूर होती हैं। किर्केगार्ड के अनुसार नैतिक अवस्था अपेक्षा की अवस्था है। नैतिकता की अवस्था में व्यक्ति वर्तमान तथा तात्कालिक इच्छाओं से ऊपर उठने की आवश्यकता अनुभव करता है तथा अन्य से अपने विचारों तथा क्रियाओं को सम्बन्धित करता है। यही कारण है कि किर्केगार्ड यह कहते हैं कि मानव का 'नैराश्य' उसे सौन्दर्यशीलता के स्तर से नैतिकता के स्तर में बदलाव का उपादान बनाता है।

किर्केगार्ड इस बात से सहमत हैं कि नैतिक अस्तित्व की प्रमुख विशेषता कर्तव्य है। नैतिकता के सम्बन्ध में किर्केगार्ड ने कोई दार्शनिक तार्किक आधार नहीं प्रस्तुत किया है। काण्ट ने अपनी नैतिकता में कर्तव्यनिष्ठा को तर्क समर्थित स्थान दिया था, किर्केगार्ड ने उसे स्वीकार कर लिया और कर्तव्य को नैतिकता का प्रमुख लक्षण मान लिया। किर्केगार्ड को विश्वास है कि नैतिकता केवल सामाजिक रीति रिवाजों पर अवलम्बित नहीं है बल्कि उसका नियंत्रण ईश्वर के द्वारा होता है। इसके अतिरिक्त नैतिकता का सिद्धांत व्यक्तिगत इच्छा पर आधारित न होकर सार्वभौमिक होते हैं। वे व्यक्ति निरपेक्ष होने के कारण बिना किसी अपवाद के सब पर लागू होते हैं। नैतिकता का परिणाम सुखवादियों की भांति निराशा जनक नहीं होता है। इसके परिणाम में स्वतंत्रता एवं स्थिरता प्राप्त होती है।

7.6.1 सोरेने किर्केगार्ड के अनुसार नैतिक व्यक्ति कर्तव्य परायण होता है

सारेन किर्केगार्ड का यह मानना है कि सुखोपभोग की इच्छा रखने वाला व्यक्ति आत्मकेन्द्रित होता है किन्तु नैतिक व्यक्ति आत्मपरायण होता है। मानवीय कर्तव्य विशेष न होकर सामान्य होते हैं। नैतिकता आत्मकेन्द्रित न होकर सामान्य होती है। सुख को ही सर्वोपरि मूल्य मानने वाले लोग अन्य लोगों को अपने समान ही सुख प्राप्त करने का अधिकार नहीं नहीं देना चाहते है, किन्तु नैतिक व्यक्ति जो अधिकार अपना समझता है। नैतिकता का यह नियम समाज के सभी लोगों पर समान रूप से लागू होता है।

7.6.2 नैतिकता की अवस्था अपने से अन्य को सम्बद्ध करने की अवस्था है

सारेन किर्केगार्ड का मानना है कि सुखोपभोग इच्छा से मनुष्य में उत्पन्न 'नैराश्य' का मूल कारण उसका 'स्व' के प्रति अत्यधिक लगाव था यह लगाव उसे अपने में आबद्ध किये थे उसे पूर्णतया 'एकाकी' बनाये था। यही कारण है कि अब मनुष्य को इस 'स्व' या

'एकाकीपन' से बाहर निकलने के लिए अपने को अन्य से सम्बद्ध करना पड़ता है। अपने से अन्य को सम्बद्ध करने की 'आवश्यकता' के कारण मनुष्य 'अन्य' को समझता है, तथा 'स्व' से ऊपर उठकर 'अन्य' की ओर उन्मुख होता है। अब वह अपने को परिवार, समाज, राज्य इत्यादि से सम्बन्धित करता है। अब वह एक सामाजिक प्राणी बन जाता है तथा नैतिक आदर्शों को दृष्टि में रखते हुए अन्य से सम्बन्धित परोपकार का कार्य करता है। किर्केगार्ड अपनी पुस्तक Either /Or के दो खण्डों में सौन्दर्यात्मक एवं नैतिक अवस्था के दो स्थितियों का विवरण देता है और यह स्पष्ट रूप में कहता है कि सौन्दर्यशीलता या संवेदनशीलता की अवस्था आत्मकेन्द्रित थी किन्तु नैतिकता की अवस्था 'अन्य' से सम्बन्धित है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नैतिकता की अवस्था में 'व्यक्ति' के वैयक्तिकता का सर्वथा अभाव होता है, क्योंकि यह निर्णय कि उसे 'स्व' को अन्य से सम्बद्ध करना है उसी वैयक्तिकता का निर्णय है। किर्केगार्ड का कहना है कि इस स्तर में व्यक्ति स्वयं यह निर्णय लेता है कि उसे सौन्दर्यात्मक अवस्था से उत्पन्न नैराश्य से मुक्त होने के लिए 'अन्य' के प्रति दायित्वों एवं कर्तव्यों का पालन करता है।

परन्तु किर्केगार्ड का मानना है कि मानव जीवन में नैतिकता की अवस्था में भी एक प्रकार की नैतिक निराशा ही मिलती है। नैतिकता के आदेश बड़े अमूर्त होते हैं। विशिष्ट परिस्थितियों में मात्र इन आदेशों के आधार पर यह तय करना कठिन हो जाता है कि कौन का मार्ग वस्तुतः नैतिक है। वास्तविक परिस्थितियों में नैतिक नियम किसी चुनाव में सहायक सिद्ध नहीं हो पाते हैं।

नैतिक नियमों की ऐसी विफलता से मनुष्य निराश होता है। वह नैतिक व्यक्ति जिस नैराश्य से ऊपर उठने के लिए 'स्व' से ऊपर उठकर 'अन्य' के साथ अपने को सम्बद्ध करता है, उस नैराश्य से क्षणिक त्राण मिलता है भले ही प्रतीत हो, किन्तु यह अवस्था भी एक दूसरे प्रकार का तनाव उत्पन्न करती है। यह तनाव है–'स्व' एवं 'अन्य' से सम्बद्ध होने की प्रवृत्तियों का। यह अनुभूति भी निराशा की अनुभूति है। अतएव यह अनुभूति भी मानव अस्तित्व के सम्पुष्टि का आधार नहीं हो सकती।

7.7 सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार मानव अस्तित्व की धार्मिक अवस्था –

सोरेन किर्केगार्ड का यह मानना है कि मानव अस्तित्व की नैतिकता की अवस्था में उत्पन्न 'नैराश्य' मनुष्य में इस सम्पुष्टि की आकांक्षा में पुनः स्तरीय बदलाव का उपादान प्रकट होता है और यह स्तर धार्मिकता के स्तर में बदलने लगता है। धार्मिकता के स्तर पर मनुष्य के नैतिकता की उपेक्षा नहीं होती है, केवल उसका महत्व कम हो जाता है। नैतिकता के शुभ लक्षण धर्म में भी ग्रहण कर लिए जाते हैं, केवल नैतिकता की न्यूनताओं एवं सीमाओं का परित्याग कर दिया जाता है।

धार्मिक व्यक्ति नैतिक नियमों का पालन ईश्वर की आज्ञा समझकर करता है।

उसका कर्तव्य केवल कर्त्तव्य के लिए नहीं, अपितु ईश्वर के आदेश के पालन में निहित है। यदि उसे कभी नैतिक नियमों के विपरीत ईश्वर से आदेश मिलता है, तो वह नैतिक मार्ग का अंधानुकरण न करके ईश्वर के आदेश के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन करेगा। इस प्रकार धर्म के क्षेत्र में मनुष्य के लिए केवल एक ही कर्तव्य रह जाता है कि वह ईश्वर को सर्वापरि और सर्वनियन्ता समझकर उसके आदेश का पालन करे। धार्मिकता की इस अवस्था में आत्म संतोष एवं दृढ़विश्वास उसके पथ प्रदर्शक बनते हैं।

7.7.1 किर्केगार्ड की धार्मिकता ईसाई धर्म की प्रचलित धार्मिकता से भिन्न थी

सोरेन किर्केगार्ड की मानव अस्तित्व की धार्मिक अवस्था ईसाई धर्म में प्रचलित धार्मिक अवस्था से भिन्न प्रकार की थी। किर्केगार्ड जिस प्रकार के धार्मिकता की स्थिति की कल्पना करते हैं, वह धार्मिकता के सामान्य प्रचलित अर्थ से बहुत भिन्न थी। सामान्यतः आधुनिक जीवन में मानव जिसे धार्मिकता कहकर जीवन जीता है, वह नैतिकता से भिन्न नहीं है, बल्कि वह नैतिकता के ही समान है। धार्मिकता में भी नैतिकता के स्तर के समान ही कुछ धार्मिक आदेशों को सर्वोपरि मान लिया जाता है, तथा उन्हीं के अनुरूप जीवन को धार्मिक स्तर कहा जाता है।

किर्केगार्ड मानव अस्तित्व के जिस धार्मिक स्तर का उल्लेख करते हैं, वह ईसाई धर्म की प्रचलित धार्मिकता नहीं है। किर्केगार्ड के धार्मिकता के इस स्तर में किसी धार्मिक संस्था के आदेश महत्वपूर्ण नहीं है, यहाँ व्यक्ति के अन्तःकरण में किसी धार्मिक संस्था के आदेश महत्वपूर्ण नहीं है, यह व्यक्ति के अन्तःकरण में आत्मीयता के दृढ़ जीवन में उत्पन्न हुआ स्वर है। यह धार्मिक की आन्तरिक अनुभूति है, जिसमें व्यक्ति प्रत्येक प्रकार के संस्थागत, नैतिक तथा धार्मिक आदेशों से ऊपर उठ जाता है। किर्केगार्ड के अनुसार यह दृढ़ आस्था का स्तर है, जहाँ आस्था के लिए सभी प्रकार के आदेश नगण्य हो जाते हैं। यह व्यक्ति में किसी प्रकार से बाहर से लाई हुई धार्मिकता नहीं है, अपितु उसके आन्तरिकता में उद्भूत धार्मिकता है।

7.7.2 किर्केगार्ड का प्रश्न– ''मैं ईसाई कैसे बनूं।''

किर्केगार्ड ईसाई धर्म की धार्मिकता के सम्बन्ध में यह कहकर प्रश्नचिन्ह लगाते हैं कि –मैं ईसाई कैसे बनूं?'' किर्केगार्ड का यह प्रश्न विचित्र प्रतीत होता है, क्योंकि उसके समय में पश्चिम में लोग ईसाई ही थे। किर्केगार्ड ऐसे लोागों को जो स्वयं को ईसाई कहते हैं, ईसाई नहीं मानता है। जो स्वयं को ईसाई कहते हैं वह कहने मात्र से ईसाई नहीं हो जाते। स्वयं को ईसाई मानने वालों को ईसाई धर्म को सिखाना सरल नहीं है बनिस्बत ऐसे लोगों के जो ईसाई नहीं हैं। किर्केगार्ड का कहना है कि जो ईसाई नहीं हैं उन्हें ईसाई बनाना सरल है। इसीलिए स्वयं को ईसाई कहने वालों को किर्केगार्ड ने सन्देश दिया कि 'पाखण्ड न करो' ईसाई बनने का पाखण्ड करना घातक है। मानवता न रखते हुए मनुष्य कहलाना, धर्म भावना न होते हुए भी धार्मिक कहलाना पाखण्ड है। इस

प्रकार के पाखण्डों को त्यागकर मनुष्य को अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट होना चाहिए।

7.7.3 सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार मानव अस्तित्व की धार्मिक अवस्था नैतिकता से सोद्देश्य ऊपर उठने की प्रक्रिया है।

सोरेन किर्केगार्ड का यह स्पष्ट अभिमत है कि नैतिक निराशा से धार्मिकता की ओर जो व्यक्ति की आन्तरिकता उन्मुख होती है, उसके सन्दर्भ में उनका कहना है कि यह नैतिकता से सोद्देश्य ऊपर उठने की प्रक्रिया है। मानव अस्तित्व के इस धार्मिक स्तर पर सभी नैतिक आदेश नगण्य हो जाते हैं। व्यक्ति नैतिक आदेशों की सामान्यता के स्थान पर आन्तरिक आस्था को महत्व देने लगता है और उसके निर्णय निश्चय ही उस आस्था के अनुरूप होते हैं। जब व्यक्ति के निर्णय धार्मिक आस्था के अनुरूप होने लगते हैं, तो मानव अस्तित्व की इस अवस्था को ही धार्मिक स्तर कहा जाता है।

मानव अस्तित्व की धार्मिक अवस्था को किर्केगार्ड ने एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है। एक प्रकार से यह किर्केगार्ड का ऐसा प्रतिमान उदाहरण है, जिसका उपयोग उन्होंने अनेक स्थल पर किया है। यह अब्राहम के कहानी का उदाहरण है। अब्राहम ने ईश्वर की प्रार्थना करके एक पुत्ररत्न प्राप्त किया था, जिसका नाम ईसाक था। ईसाक सभी दृष्टि से बड़ा ही योग्य बालक था। अचानक अब्राहम को ईश्वरीय आदेश प्राप्त हुआ कि वह ईसाक की बलि चढ़ा दे। अब्राहम पुत्र को लेकर अज्ञात स्थान पर जाते हैं और बलि देने का उपक्रम करते हैं। अब्राहम के इस कर्म को प्रबल धार्मिकता का उदाहरण माना जाता है। किन्तु इसमें क्या धार्मिकता है? नैतिक दृष्टि से यह कार्य अनुचित एवं जघन्य है। बाप को बेटे के लिए हर प्रकार का बलिदान देना नैतिक है उसके लिए दुःख उठाना उसका कर्तव्य है, और यहां एक बाप बेटे की बलि दे रहा है। पुनः किसी योग्य और निर्दोष व्यक्ति की हत्या अनैतिक ही नहीं है, बल्कि पाप है और यहाँ हम अब्राहम के कार्य को धर्मिकता का चरम उदाहरण कह रहे हैं। किर्केगार्ड की व्याख्या है कि यदि अब्राहम भी नैतिक स्तर पर होते तो उसके मन में भी ऐसे विचार आते। परन्तु इस ईश्वरीय आदेश पालन में अब्राहम नैतिक आदेशों के बन्धन से मुक्त है, नैतिकता के स्तर से ऊपर उठ गये हैं। वे इस ऊपर उठने में ईश्वर के प्रति निरपेक्ष रूप से समर्पित हैं।

ईश्वरीय आदेश के पालन में अब्राहम के लिए किसी प्रकार का सोच-विचार किसी प्रकार का बन्धन महत्वहीन है। महत्वपूर्ण मात्र उनकी आस्था है, उनकी वैयक्तिक आस्था हर प्रकार के सामान्य नियमों से ऊपर है, किसी प्रकार का अन्य विचार उनकी आस्था को विचलित करने में समर्थ नहीं है। आस्था की यह परिणति है तथा इसी कारण अब्राहम को 'आस्था का प्रणेता' कहा जाता है। किर्केगार्ड अपने उदाहरण के द्वारा यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि अपने आन्तरिकता में ईश्वर के प्रति पूर्ण एवं निरपेक्ष आस्था ही धार्मिकता का सर्वोच्च स्तर है। धार्मिकता के इस स्तर में मानव अस्तित्व को एक ठहराव प्राप्त होता है।

7.8 निष्कर्ष :

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि किर्केगार्ड मानव अस्तित्व तीन अवस्थाओं को मानव जीवन का तीन स्तर कहा है। मानव जीवन के ये तीन स्तर सौन्दर्यात्मक, नैतिक और धार्मिक हैं। किर्केगार्ड ने मानव जीवन के सौन्दर्य के स्तर को सुखोपभोग करने की प्रवृत्ति के रूप में विवेचित किया है। इस स्तर में सुख को जीवन का केन्द्र माना जाता है। इसका परिणाम अधः पतन होता है और मनुष्य में नैराश्य का उदय होता है। इस नैराश्य के कारण मानव अस्तित्व में सौन्दर्यात्मक स्तर से नैतिकता के स्तर में बदलाव होता है परन्तु। मानव अस्तित्व के नैतिक अवस्था में भी व्यक्ति को नैराश्य का सामना करना पड़ता है। इस नैतिक निराशा के कारण मानव अस्तित्व में पुनः एक स्तरीय बदलाव होता है, जिसे धार्मिक स्तर कहा जाता है। किर्केगार्ड का कहना है कि धार्मिकता के स्तर में मनुष्य को अपने जीवन के लिए एक ठहराव मिल जाता है और अन्य अवस्थाओं की विसंगतियों एवं निराशाओं से अपने को ऊपर उठाकर मुक्त हो जाता है, स्वतंत्र हो जाता है। यह उसकी आन्तरिक सम्पुष्टि की स्थिति हो जाती है। परन्तु सोरेन किर्केगार्ड ने मानव अस्तित्व की तीन अवस्थाओं का जो विवेचन किया है, उसमें आलोचकों ने कुछ कमियां दिखाये हैं–

(1) सोरेन किर्केगार्ड का यह मानना है कि मानव अस्तित्व के नैतिकता की अवस्था में भी एक प्रकार की 'निराशा' उत्पन्न होती है। आलोचकों का कहना है कि नैतिकता धर्म का ही एक सोपान है। नैतिकता धर्म का स्थानापन्न नहीं हो सकती है, किन्तु नैतिकता धार्मिक लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए एक ओर मनुष्य को प्रेरणा प्रदान करती है, तो दूसरी ओर धर्म का परिष्कार करती है। धर्म का प्रकाशन नैतिकता में ही होता है।

(2) किर्केगार्ड द्वारा वर्णित मानव अस्तित्व की तीन अवस्थाएं प्रत्यय के आत्मोन्मीलनकारी प्रक्रकों में नहीं है, वे मानव जीवन उन दारुण स्थितियों में निहित है, जिनमें वह एक महत्वपूर्ण निर्णय लेता है। इन्हीं निर्णयों के द्वारा व्यक्ति सौन्दर्यात्मक जीवन का अतिक्रमण कर नैतिक जीवन में प्रवेश करता है और अन्ततः उससे भी ऊपर जाकर धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन को अपनाता है। वह व्यक्ति के जीवन में सरल प्रवाह में प्रतिफलित नहीं होता है। व्यक्ति का उच्चस्तरीय जीवन उसकी एक असाधारण छलांग से ही घटित होता है।

7.9 सारांश

सोरेन किर्केगार्ड मानव अस्तित्व के विकास में मनुष्य के अस्तित्व की तीन अवस्थाओं का निरूपण किया है। मानव अस्तित्व की तीन अवस्थाएं सौन्दर्यात्मक, नैतिक एवं धार्मिक हैं। मानव अस्तित्व इन अवस्थाओं को सोरेन किर्केगार्ड 'जीवन के तीन स्तर'

के रूप में वर्णन करता है। इन तीन अवस्थाओं में सौन्दर्यात्मक स्तर पर मनुष्य संसार की वस्तुओं में संलिप्त रहकर सुखोपभोग की इच्छा करता है, जिसके कारण उसे 'नैराश्य' की प्राप्ति है। सौन्दर्यात्मक अवस्था में मनुष्य को जो 'नैराश्य' मिलता है उसके कारण वह नैतिक अवस्था की ओर उन्मुख होता किन्तु, नैतिक अवस्था में भी 'नैराश्य' की प्राप्ति होती है और अन्ततः वह धार्मिकता की ओर उन्मुख होता है। धार्मिकता मानव के आन्तरिकता में ईश्वर के प्रति पूर्ण एवं निरपेक्ष आस्था है। धार्मिकता के इस अवस्था में मानव को एक ठहराव प्राप्त होता है।

7.10 बोध प्रश्न

(1) सोरेन किर्केगार्ड के मानव अस्तित्व के तीन अवस्थाओं का विवेचन कीजिए।

(2) सोरेन किर्केगार्ड मानव अस्तित्व की तीन अवस्थाओं को ही 'जीवन का तीन स्तर' कहता है। समीक्षात्मक विवेचन कीजिए।

(3) सोरेन किर्केगार्ड के मानव अस्तित्व की तीन अवस्थाओं का जो निरूपण किया, क्या उनका कोई निश्चित क्रम है? यदि निश्चित क्रम है तो उसका समीक्षात्मक विवेचन कीजिए।

7.11 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन पाश्चात्य दर्शन – प्रो0बी0के0 लाल
2. अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक – लक्ष्मी सक्सेना, सभाजीत मिश्र
3- Existentialism as Philosophy- Molina

ईकाई–08 सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार मानव अस्तित्व की सौन्दर्यात्मक अवस्था

रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 मनुष्य के द्वारा सौन्दर्यात्मक जीवन का संकल्प

8.2.1 चयन की स्वतंत्रता

8.2.2 सोरेन किर्केगार्ड एवं काण्ट की मानवीय स्वतंत्रता में अंतर

8.2.3 सोरेन किर्केगार्ड के दर्शन में व्यक्ति

8.2.4 सोरेन किर्केगार्ड का दर्शन व्यक्ति के जीवन का नितान्त एवं निजी विवेचन है

8.3 मानव जीवन के तीन स्तर

8.4 आइदर/आर में किर्केगार्ड द्वारा विमोचित सौन्दर्यात्मक जीवन

8.5 किर्केगार्ड के अनुसार सौन्दर्यात्मक अवस्था तात्कालिकता की अवस्था है

8.6 सौन्दर्यात्मक अवस्था के तीन लक्षण है

8.6.1 तात्कालिकता

8.6.2 संशय

8.6.3 नैराश्य

8.7 सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार सौन्दर्यात्मक अवस्था के सुख के विभिन्न रूप है

8.8 सुखवादियों के जीवन का आत्मनियंत्रित नहीं होना

8.9 सौन्दर्यात्मक जीवन की अवस्था की विशिष्टताएँ

8.10 सौन्दर्यात्मक अवस्था में उत्पन्न 'ऊब'

8.11 निष्कर्ष

8.12 सारांश

8.13 बोध-प्रश्न

8.14 उपयोगी-पुस्तकें

8.0 उद्देश्य

- सोरेन किर्केगार्ड के मानव अस्तित्व के सौन्दर्यात्मक अवस्था में व्यक्ति के अन्तरंग जीवन की विशिष्टताओं का निरूपण करना।
- सोरेन किर्केगार्ड ने मानव अस्तित्व की इस अवस्था को सुखानुभूति बताया है। मानव अस्तित्व की यह सुखानुभूति किस रूप में व्यक्त होती है? इस प्रश्न पर विचार किया जायेगा।
- मानव अस्तित्व की इस सौन्दर्यात्मक अवस्था की परिणति 'नैराश्य' में होती है। इस नैराश्य का निरूपण करना है।

8.1 प्रस्तावना

अस्तित्ववाद के प्रणेता सोरेन किर्केगार्ड का यह मानना है कि किसी भी मनुष्य के व्यवहार का मूल्यांकन किसी भी वाह्य कसौटी के आधार पर करना उचित नहीं है, केवल एक ही कसौटी सभी के व्यवहार के लिए संभव नहीं है। उन्होंने अपने अस्तित्ववादी दर्शन में यह दिखलाने का प्रयास किया है कि मानवीय व्यवाहर सही अर्थों में तभी स्वतंत्र हो सकता है, जब उसे अपनी दशाओं के चयन की स्वतंत्रता हो। इसी के साथ उन्होंने यह बात भी जोड़ी कि वह दिशा एक नहीं हो सकती है और यह भी कि ह्रदय की पूर्ण प्रतिबद्धता के साथ इनमें से किसी व्यक्ति द्वारा किसी का भी चुनाव किया जा जाए तो वह चुनाव उतना ही आप्त होगा, उतना ही सही होगा, जितना कि कोई दूसरा। हमें किसी एक प्रतिमान के अन्तर्गत जो किसी एक जीवन शैली के स्वरूप को निर्धारित करता है किसरी दूसरी जीवन शैली को अस्वीकार करने का कोई अधिकार नहीं है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए सोरेन किर्केगार्ड ने यह दिखाया है कि मानव अस्तित्व के आन्तरिक विकास में मनुष्य के अन्दर कुछ विकल्प उपस्थित होते हैं, जिनमें उसे कुछ चुनाव करना पड़ता है तथा उसके इसी चुनाव के अनुरूप उसका जीवन उसे अस्तित्व का रूप ग्रहण करता है। सोरेन किर्केगार्ड ने मानव अस्तित्व की आन्तरिकता में अन्तर्निहित विभिन्न विकल्पों पर विचार किया तथा यह अनुभव किया कि मानव अस्तित्व के इन विकल्पों के तीन स्तर हो सकते हैं– सौन्दर्यात्मक (Aesthetic) नैतिक (Ethical)एवं धार्मिक (Religious)। सोरेन किर्केगार्ड ने इन तीनों विकल्पों का विवरण मानव अस्तित्व की तीन अवस्थाएं कह कर दिया है और इसे 'जीवन के तीन स्तर (Three Stage of Life) की संज्ञा दिया है। मानव अस्तित्व की इन अवस्थाओं में सौन्दर्यात्मक अवस्था सबसे भिन्न और प्रथम स्तर की है। इस स्तर पर मनुष्य सुखवादी होता है और भौतिक वासनाओं में लिप्त होता है।

8.2 मनुष्य के द्वारा सौन्दर्यात्मक जीवन का संकल्प

सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार सौन्दर्यपरक जीवन मनुष्य के सौन्दर्यपरक जीवन

व्यतीत करने के संकल्प पर आधारित है। सोरेन किर्केगार्ड का मानना है कि जो व्यक्ति सौन्दर्यपरक जीवन व्यतीत करने का संकल्प करता है, उसका निश्चय उतना ही श्लाघनीय है, जितना कि उसका जिसने हृदय की पूर्ण सच्चाई के साथ नैतिक एवं धार्मिक जीवन शैली को स्वीकार करने का निर्णय लिया है।

8.2.1 चयन की स्वतंत्रता

सोरेन किर्केगार्ड का यह मानना है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन शैली के चयन की पूर्ण स्वतंत्रता है, उससे किर्केगार्ड के अनुसार एक ही अपेक्षा हैं कि वह उस चयन से सम्बद्ध दायित्वों को हृदय की पूरी प्रतिबद्धता के साथ स्वीकार करे। यही नहीं, किर्केगार्ड कहते हैं कि उसे इस बात की पूरी छूट है कि जब भी चाहे एक जीवन शैली का परित्याग कर दूसरे में प्रवेश ले सकता है और उसके इस परिवर्तन का कोई तार्किक आधार ढूँढ़ना संभव नहीं है, क्योंकि वह तार्किक आधार है ही नहीं। इसी बात को वे व्यक्त करते हुए कहते हैं, ''हमारा चुनावपूर्णतः स्वतंत्र होता है, उसका कोई तार्किक आधार नहीं होता है, जिसे सोरेन किर्केगार्ड 'छलांग' शब्द से व्यक्त करते हैं।''

परन्तु किसी जीवन शैली के चुनाव का तार्किक आधार न होने का यह आश्य नहीं है कि व्यक्ति मनमानी करने को स्वतंत्र है। सोरेन किर्केगार्ड का सम्पूर्ण दर्शन इस संभावना को अपने तरीके से ध्वस्त करने की चेष्टा करता है कि हृदय मनमानी न कर सके, इसी के लिए वे हृदय की सच्चाई का उसकी प्रतिबद्धता का बार–बार वास्ता देते हैं।

8.2.2 सोरेन किर्केगार्ड एवं काण्ट की मानवीय स्वतंत्रता में अंतर

यद्यपि सोरेन किर्केगार्ड एवं काण्ट दोनों ही मानवीय स्वतंत्रता की बात करते हैं किन्तु दोनों ही दृष्टिकोण में आमूल अन्तर है। काण्ट के जीवन की दृष्टि पूर्णतः बौद्धिक है। वह शुद्ध बौद्धिक प्रतिमान को ही नैतिक प्रतिमान के रूप में प्रसारित करते हैं। सोरेन किर्केगार्ड के अस्तित्ववादी दर्शन में मानवीय व्यवहार को दिशा देने के कार्य में बुद्धि का लेशमात्र भी योगदान नहीं है। यही नहीं काण्ट ने व्यक्ति की वैयक्तिकता को एक सार्वभौम, निर्विकार सत् के समक्ष पूर्णतः तिरोहित कर दिया है, जबकि सोरेन किर्केगार्ड का सम्पूर्ण दर्शन इस दृष्टि के विरोध में ही अपने स्वर को मुखर करता है।

8.2.3 सोरेन किर्केगार्ड के दर्शन में व्यक्ति

सोरेन किर्केगार्ड के दर्शन में व्यक्ति ही प्रतिष्ठित है। किर्केगार्ड व्यक्ति के जीवन की आप्तता के विभिन्न आयामों कोप्रस्तुत करने का प्रयास करता है और सहज रूप से अपनी प्रतिबद्धता के स्वरों को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि मन में उस जीवन के प्रति एक सहज आकर्षण भाव जाग सके। किर्केगार्ड हृदय से ईसाई था और अपने जीवन के व्यक्तिगत निर्णय के माध्यम से उसने धार्मिक जीवन शैली को जो रूप दिया है वह

अद्वितीय है। एक धर्मनिष्ठ व्यक्ति की अपने से क्या अपेक्षा हो सकती है, इसका उसे पूरा–पूरा अनुभव था और यह भी कि वह उस जीवन की उच्चतम उड़ान को ले सकने में पूर्णतः अक्षम है। यही नहीं, न चाहते हुए भी अपने जीवन दृष्टि की मूल स्वीकृति के विरुद्ध वह हमसे भी मन के किसी अदृश्य कोने से यह अपेक्षा करता है कि हम न केवल अपने में इस जीवन शैली की सच्चाइयों एवं गहराइयों के प्रति संवेदनशीलता विकसित करें, बल्कि उसके आह्वान की गरिमा को समझते हुए हृदयकी पूर्ण प्रतिबद्धता के साथ अपने को ही अर्पित कर दें।

8.2.4 सोरेन किर्केगार्ड का दर्शन व्यक्ति क जीवन का नितान्त निजी विवेचन है–

सोरेन किर्केगार्ड के दर्शन में हमें 'व्यक्ति' के जीवन की नितांत निजी अनुभूतियों का बड़ा ही सशक्त चित्रण मिलता है। परन्तु जिस व्यक्ति की गहराइयों में उतर कर उसके भीतर के जीवन को अंकित करता है वह सामान्य से भिन्न व्यक्ति अवश्य है। सोरेन किर्केगार्ड का मानना है कि व्यक्ति का केवल एक जैविकीय अस्तित्व नहीं है, जिसका जीवन यंत्रवत मात्र जैविकीय वृत्तियों से ही संचालित है और न ही वह सचेतन अस्तित्व है, जो समाज की सदस्यता ग्रहण करते हुए मात्र उसी का होकर रह जाता है, उसी से संचालित होता है और उसी के प्रतिमान से पूर्णतः निःशेष रूप से नियंत्रित है। वह एक ऐसे अस्तित्व की बात करता है जो पूर्णतः अपने अस्मिता की खोज में लगा हुआ है और 'अस्तित्व' की बात करता है। वह एक ऐसा मनुष्य है, जिसने अपनी अस्मिता की खोज के लिए अपनी दिशाओं का अपनी आन्तरिक प्रकृति के अनुरूप चयन भी किया है, जिसे अन्य शब्दों में किसी बाह्य-निर्देशन की आवश्यकता नहीं है।

8.3 मानव जीवन के तीन स्तर

सोरेन किर्केगार्ड मानव जीवन के तीन स्तरों का भव्य चित्र प्रस्तुत करते हैं। वे इस तीन प्रकार की जीवन स्वीकृतियों में किसी प्रकार के समझौते की कल्पना नहीं करते। यहीं पर उनका स्पष्ट विरोध हेगेल के द्वन्द्व न्याय से व्यक्त होता है। हेगल उच्च एवं निम्न जीवन दृष्टियों की बात करते हैं, पर यह मानते हैं कि एक उच्चतर समग्र दृष्टि में सभी निम्न दृष्टियों को उनकी परिपूर्णता प्राप्त हो जाएगी। इस प्रकार के समन्वय की कोई कल्पना किर्केगार्ड को स्वीकार्य नहीं है। जब तक किसी भी जीवन शैली का व्यक्ति चुनाव करता है और उसे हृदय के साथ पूरी सच्चाई के साथ जीता है, तब तक उस जीवन शैली की स्वीकृति में कोई विरोध नहीं है। परन्तु जब उस जीवन शैली का परित्याग कर वह किसी नवीन जीवन शैली का वरण करता है तो पिछली जीवन शैली का कुछ भी कायम रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी बात को उनकी एक पुस्तक के शीर्षक के माध्यम से व्यक्त किया जा सकता है– 'या यह या वह' (Either/Or)। जब व्यक्ति छोड़ता है, तब छलांग के साथ छोड़ता है और इसलिए कि वह दूसरे के लिए मन से तैयार हो चुका है। यही कारण है कि उसकी यह स्वीकृति किन्हीं

वस्तुपरक तार्किक आधारों की अपेक्षा नहीं करती। ये आधार वस्तुतः मनौवैज्ञानिक हैं और एक जीवन शैली भीतर से गुजरते हुए व्यक्ति के संघर्षों उसके भावों एवं संवेगों उसकी प्रतिक्रियाओं को किर्केगार्ड बड़ी ही काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत करते हैं। सोरेन किर्केगार्ड मानव जीवन के जिन तीन स्तरों की बात करते हैं उनमें प्रत्येक अवस्था का दूसरी अवस्था में परिवर्तन संभव है और इस परिवर्तन में एक क्रम है।

8.4 आइदर/आर में किर्केगार्ड द्वारा विमोचित सौन्दर्यात्मक जीवन –

'आइदर/आर' में किर्केगार्ड द्वारा विवेचित सौन्दर्यपरक जीवन शैली के एक–एक भावों को जिस समझ के साथ उपस्थित करते हैं, वह स्वयं अपने में एक उपलब्धि है। 'कार्डेलिया' के माध्यम से उन्होंने अपने जीवन के कुछ अंतरंग क्षणों को शब्द बद्ध करना चाहा है। 'कार्डेलिया' रेजिना ओल्सेन ही है, जिससे उसका विवाह पक्का हो गया था, पर जिसका उन्होंने स्वेच्छा से ही एक भिन्न जीवन शैली की दृष्टि से परित्याग कर दिया था। रेजिना को स्वीकार कर उस जीवन शैली के साथ न्याय करना उनके लिए संभव नहीं था। इसलिए हृदय की एक अधिक प्रबल माँग के लिए उन्होंने रेजिना को, जिसमें उनका सम्पूर्ण विश्व समाया हुआ था छोड़ दिया यानी विश्व से ही संन्यास ले लिया, ताकि वे पूर्णतः ईश्वर के सतत् सानिध्य में अपना जीवन व्यतीत कर सकें। परिवार के प्रति किर्केगार्ड का कोई लगाव नहीं था, क्योंकि परिवार जिन दायित्वों का प्रतीक है उसके प्रति किर्केगार्ड के मन में किसी भी प्रकार का कोई लगाव नहीं था। किर्केगार्ड ने अपनी सौन्दर्यपरक जीवन शैली में अपने ऐसे ही निजी अनुभवों को व्यक्त करते हुए यह दिखाते हैं कि व्यक्ति के मन में किसी भी प्रकार के स्थायी लौकिक सम्बन्धों की कामना नहीं होती, पर इस सतही समानता के अतिरिक्त शेष सभी कुछ उसमें धार्मिक शैली से नितान्त भिन्न होता है।

8.5 किर्केगार्ड के अनुसार सौन्दर्यात्मक अवस्था तात्कालिकता की अवस्था है

सोरेन किर्केगार्ड मानव अस्तित्व के तीन विकल्पों में सौन्दर्यात्मक अवस्था को तात्कालिकता की अवस्था कहा है। इस अवस्था में व्यक्ति अपने तात्कालिक सम्पर्क की वस्तुओं में जीता है। सौन्दर्यात्मक अवस्था में व्यक्ति वर्तमान में जीता है। इस अवस्था में मनुष्य का लक्ष्य इन्द्रियजन्य संवेदनाओं की तृप्ति करना होता हैं यही कारण है कि इस अवस्था में मनुष्य में सुखोपभोग की प्रवृत्ति उसका सबसे प्रमुख प्रेरक बन जाती हैं इस अवस्था में मनुष्य उन्हीं वस्तुओं में अभिरुचि लेता हैं जिससे उसे वैयक्तिक सुख मिले। इस अवस्था में सुख प्राप्त करना ही मनुष्य के जीवन का लक्ष्य बन जाता है। मनुष्य इस अवस्था में शारीरिक कष्ट, दुःख, आदि से यथा संभव बचने की कोशिश करता है। वह सुख, ऐश्वर्य आदि के लिए साधनों को एकत्रित करता रहता है, तो इसे ही जीवन का

सर्वोपरि कार्य समझ लेता है। इस प्रकार के सुख की प्राप्ति में संलग्न मनुष्य के विषय में किर्केगार्ड का कहना है कि इस प्रकार का जीवन जीते–जीते मनुष्य में अपने आप एक प्रकार की विरक्ति उत्पन्न होने लगती है, वह सुखभोग के प्रयत्नों से ऊबने लगता है। उसे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जीवन से केवल सुखभोग की आकांक्षा जीवन का उपहास है। उसे ऐसा लगने लगता है कि अब तक जिस सुख की खोज में लगा था, उसके स्थान पर उसे एक विचित्र निराशा की ही प्राप्ति हुई है। इसी कारण इस सौन्दर्यात्मक अवस्था के निरूपण में किर्केगार्ड ने यह पाया कि इसके भी तीन लक्षण हैं– तात्कालिकता, संशय तथा नैराश्य।

8.6 सौन्दर्यात्मक अवस्था के तीन लक्षण है

सोरेन किर्केगार्ड सौन्दर्यात्मक अवस्था के निरूपण में यह पाया कि जब व्यक्ति सुखोपभोग के उपादानों के प्राप्ति में लगा होता है तो उसे इस बात का भी अवबोध कुछ समय बाद होने लगता है कि जीवन में सुखों के उपादानों की प्राप्ति ही सब कुछ नहीं है। मनुष्य में सुखों से एक प्रकार की विरक्ति उत्पन्न होती है और यह विरक्ति उसमें तात्कालिकता नैराश्य एवं संशय जैसी प्रवृत्तियों को जन्म देती है।

8.6.1 तात्कालिकता

सोरेन किर्केगार्ड ने तात्कालिकता से तात्पर्य उस सौन्दर्यात्मक अवस्था से बताया है जिसमें व्यक्ति अपने तात्कालिक सम्पर्क की वस्तुओं के साथ जीता है, वर्तमान में जीता है। तात्कालिकता को स्पष्ट करने के लिए सोरेन किर्केगार्ड एक ऐतिहासिक पात्र के चरित्र का उल्लेख करता है। सोरेन किर्केगार्ड का कहना है कि सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति से युक्त व्यक्ति प्रारम्भ में 'Don Juan' होता है, अतः सुखोपभोग की प्रवृत्ति को अनियंत्रित छूट दिये रहता है। सुख के पीछे उन्मत्त होकर दौड़ते रहने के कारण उसे यह आभास होता है कि क्या यह सब निरर्थक नहीं है? इस प्रकार के निरर्थकता के बोध से मनुष्य में सुखोपभोग के प्रति संशय उत्पन्न होता है।

8.6.2 संशय

सोरेन किर्केगार्ड का यह मानना है कि सुखोपभोग की निरर्थकता का बोध मनुष्य में 'संशय' को उत्पन्न करता है। किर्केगार्ड ने तात्कालिकता को स्पष्ट करने के लिए जिस ऐतिहासिक चरित्र के मनुष्य 'Don Juan' का उल्लेख किया था वह 'Don Juan' संशय की स्थिति में पहुंचने पर अब 'Faust' बनकर उभरता है।

8.6.3 नैराश्य

मनुष्य में उत्पन्न संशय उसमें नैराश्य को जन्म देता है। उसे प्रतीत होता है कि जिस सुखोपभोग के पीछे वह पागल था, वह भी उसे उपलब्ध नहीं है। इस 'नैराश्य' की

स्थिति को सूचित करने के लिए किर्केगार्ड ऐतिहासिक चरित्र के घुमक्कड़ यहूदी 'Ashasenrus' को प्रतीक बनाते हैं। इस 'नैराश्य' को वे सौन्दर्यात्मक नैराश्य (Aesthetic Despair) कहते हैं और मानते हैं कि इस स्थिति की परिणति इस प्रकार के नैराश्य में होती ही है।

8.7 सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार सौन्दर्यात्मक अवस्था के सुख के विभिन्न रूप है

सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार सौन्दर्यात्मक अवस्था में सुखोपभोग की इच्छा रखने वाले सभी लोग एक से नहीं होते। उनकी सुख लिप्सा भी विभिन्न प्रकार की हो सकती है। उनमें से साधारण व्यक्ति जिनकी रुचि परिमार्जित नहीं है 'सुख के लिए जीवित' रहते हैं। शिक्षित एवं परिमार्जित रुचि वाले व्यक्ति 'जीवन में तुष्टि' और 'बौद्धिक विकास' से प्राप्त होने सुखों की चाह रखते हैं। ऐसे लोग कवि, कलाकार, साहित्यकार, संगीतज्ञ आदि बन बैठते हैं। इस प्रकार सुख की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों का सुख एक ही प्रकार का नहीं हो सकता।

सुख की इच्छा रखने वाले तात्कालिक सुख को महत्व देते हैं –

सोरेन किर्केगार्ड का मानना है कि प्रायः सुख चाहने वाले व्यक्ति तत्काल प्राप्त होने वाले सुख में विश्वास करते हैं। ऐसे व्यक्तियों का सुख क्षणिक होता है। उन्हें एक वस्तु से थोड़ी देर ही सुख मिलता है। दूसरे क्षण या थोड़ी देर में उन्हें दूसरी वस्तु की इच्छा होने लगती है। इस प्रकार उन्हें परिवर्तन एवं विभिन्नता में सुख मिलता है। स्वभावतः उनकी एक ही प्रकार के सुख में संतुष्टि नहीं मिल सकती है। ऐसी स्थिति में सुख चाहने वाले व्यक्ति का जीवन विभिन्नता में खो जाता है। किर्केगार्ड ऐसे व्यक्तियों का जीवन 'विखण्डित' मानता है।

8.8 सुखवादियों के जीवन का आत्मनियंत्रित नहीं होना

सोरेन किर्केगार्ड का यह मानना है कि सुखवादियों का जीवन आत्मनियंत्रित नहीं होता है। वे विवेकपूर्वक जीवन मूल्य निर्धारित नहीं करते। वस्तुतः वे सुख देने वाली वस्तुओं से प्रभावित एवं संचालित होते हैं। उन वस्तुओं पर उनका नियंत्रण नहीं होता है। वे बुद्धि के बजाय भावना से संचालित होते हैं। उनके द्वारा बुद्धि की उपेक्षा करने के कारण उनका संकल्प भी निर्बल हो जाता है। उनमें निर्णय लेने और निर्णय पर दृढ़ रहने की क्षमता का अभाव होता है।

सुख का अनिश्चित होना–

सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार सुख प्राप्ति की कोई निश्चित संभावना नहीं रहती है। यह निश्चित नहीं है कि सुख कब प्राप्त हो। सुख प्राप्त होने पर भी सदा संतुष्टि

नहीं मिलती है। प्रायः देखने में आता है कि जितना सुख प्राप्त होता है उससे अधिक प्राप्त करने की इच्छा बनी रहती है। इस प्रकार के सुख के साथ अकुलाहट बेचैनी, व्यग्रता, उदासीनता, नैराश्य आदि भाव दुःख के रूप में बने रहते हैं। जब इस ओर व्यक्ति का ध्यान जाता है तो तात्कालिक सुखों के निरर्थकता दिखायी पड़ने लगती है। ऐसे समय यदि मनुष्य को जीवन का नया रास्ता दिखायी दे जाता है तो मनुष्य उस ओर मुड़ जाता है, अन्यथा अपने आपसे और अपने जीवन से बड़ी निराशा होती है। निराशा सुखवादी जीवन का अन्तिम छोर है। वहाँ से जीवन का मार्ग बदल जाता है। जीवन के प्रारंभ में सुख का आकर्षण स्वाभाविक होता है, उसका अनुभव करने पर ही निराशा उत्पन्न होती है। वास्तविकता यह है कि सुखवादियों के सामने जीवन का समग्र रूप नहीं आता है। सुख के साथ–साथ मानव जीवन में दुःख, रोग–दोष, दरिद्रता इत्यादि उसके जीवन के यथार्थ के रूप में जुड़े होते हैं, जिसकी सुखवादी उपेक्षा करते हैं। इस उपेक्षा का परिणाम यह होता है कि सुखोपभोग की इच्छा रखने वाले मनुष्य को न तो जीवन का यथार्थ समझ में आता है और न ही वे अपने अस्तित्व का पूर्ण विकास ही कर पाते हैं। यही कारण है कि मानव अस्तित्व की सौन्दर्यात्मक अवस्था का विवेचन करके किर्केगार्ड इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि केवल सुखोपभोग की इच्छा से कर्म करने वाले मनुष्य एवं समाज को अन्ततः दुःख एवं नैराश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा।

सोरेन किर्केगार्ड द्वारा सौन्दर्यात्मक जीवन की अन्तरंगता का वर्णन–

सोरेन किर्केगार्ड सौन्दर्यात्मक जीवन शैली की अन्तरंगता का बड़ा ही सजीव निरूपण करते हैं। उनका यह मानना है कि सौन्दर्यात्मक जीवन शैली में आस्था रखने वाला व्यक्ति पूर्णतः अनियमित जीवन नहीं व्यतीत करता है। वह प्रत्येक पल को इस प्राकर जीता है कि मानो उस एक पल में वह शाश्वतता भोग रहा है, जी रहा है। अतएव प्रतयेक क्षण की उसके लिए सार्थकता है। परन्तु सौन्दर्यात्मक स्तर पर जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति किसी भी क्षण से बंधता नहीं है और न ही किसी व्यक्ति से जिसकी उपस्थिति में वह उन क्षणों को जीता हैं यही कारण है कि ऐसा व्यक्ति किन्ही लौकिक सम्बन्धों को स्वीकार करने से घबराता है, क्योंकि उसका यह विश्वास है कि सम्बन्धों का स्थायित्व क्षणों की जीवंतता को उसके सौन्दर्य को उनके आकर्षण को एकबारगी ही समाप्त कर देता है।

8.9 सौन्दर्यात्मक जीवन की अवस्था की विशिष्टताएं

सोरेन किर्केगार्ड 'सेड्यूसरस डायरी' में 'कार्डेलिया' तथा 'सेड्यूसरसजोहानेज' के माध्यम से सौन्दर्यात्मक जीवन शैली की कुछ अन्तरंग विशिष्टताओं को प्रस्तुत करते हैं। सोरेन किर्केगार्ड की इस सौन्दर्यात्मक जीवन शैली में जिन विशिष्टताओं का उल्लेख होता है वह एक ऐसे व्यक्ति के जीवन से सम्बद्ध है जो 'कार्डेलिया' के प्रति आकृष्ट होता है, उसके साथ कुछ अन्तरंग क्षणों को जीता है और उनसे परमसुख की अनुभूति

करता है, उससे सगाई की बात हो जाती है, जो उसके द्वारा पूर्व नियोजित है। ऐसा लगता है कि सभी कुछ नितान्त सहज गति से चल रहा है। परन्तु पुनः वह अपने को 'कार्डेलिया' से इस प्रकार अलग कर लेता है, मानो उसके जीवन में अब उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। वह उससे अतिशय प्यार करता है परन्तु विवाह को उस प्यार की मृत्यु के रूप में देखता है और इसलिए वह 'कार्डेलिया' से विवाह न करने का निश्चय करता है। वह कार्डेलिया पर पूर्णतः अनुरक्त है, इस प्रकार कि उसके लिए यह कहना कठिन प्रतीत होता है कि 'तुम मेरी हो'। उसकी मनःस्थिति इन शब्दों में पूर्णतः न व्यक्त होकर यदि यूँ व्यक्त की जाए कि –'मैं तेरा हूँ' तो अधिक उचित होगा और यह बात न केवल लौकिक प्यार के बारे में सही है अपितु वह ईश्वर के लिए भी उतनी ही सही है।

सोरेन किर्केगार्ड ने अपने 'द सेड्यूरस डायरी' में 'कार्डेलिया' एवं जोहानेज के प्रणय संबंध के विषय में यह भी विचार व्यक्त करता है कि 'जोहानेज', कार्डेलिया से अपने प्यार का वर्णन करते हुए यह कहता है कि मेरे प्यार का इससे बढ़कर साक्ष्य क्या हो सकता है कि मैं नित्य प्रत्येक पल इस बात की कामना करता हूँ कि मेरे साहचर्य, से मेरी मात्र उपस्थिति से तुम्हारे व्यक्तित्व में निहित प्रकृति का अप्रतिम सौन्दर्य अपनी सम्पूर्णता को प्राप्त कर ले। तुम खिल उठो, ठीक उसी प्रकार जिस पवन के स्पर्श से कली खिल उठती है और एक पुष्प में रूपान्तरित हो अपने निहित सौन्दर्य की परिपूर्णता को प्राप्त करती है। यही मेरे प्रेम की सार्थकता है यही उसकी अन्तिम नियति है। यही कारण है कि उसके पश्चात उस प्रेम को किसी परिधि में बांधने का 'जोहानेज' का सारा प्रयास 'बेमानी' लगता है। उसके पश्चात तो उस खिले हुए पुष्प की भांति उस प्रेम के अवसान की बेला का प्रारंभ हो जाता है और जीवन का कोई भी बंधन सगाई अथवा विवाह, उसे उसके पूर्व की स्थिति में ले जा सके, यह असंभव है। इस प्रकार किर्केगार्ड 'कार्डेलिया' एवं 'जोहानेज' के प्रेम का चित्रण करते हुए यह दिखाता है कि 'जोहानेज' 'कार्डेलिया' से अतिशय प्यार करता है और प्यार की उसकी अपनी परिभाषा भी है। पर वह प्यार एक सीमा तक ही है और उस प्यार को वह एक विशिष्ट प्रयोजन के लिए ही कर पाता है और उसके बाद उससे बन्धन ग्रस्त होने से इंकार कर देता है। यहीं पर उसके सौन्दर्य बोध की भी अप्रतिम झलकियाँ मिलती है। वह कहता है कि प्रकृति में सर्वत्र सौन्दर्य बिखरा हुआ है, रूप रस का जहाँ भी प्रसार है वहीं सौन्दर्य है, पर प्रकृति की सर्वोत्कृष्ट रचना 'नारी' है और जो प्रकृति की इस विलक्षण सृष्टि के प्रति आकृष्ट नहीं होता, उसे सौन्दर्य पारखी सौन्दर्य का भोक्ता तो नहीं कह सकते हैं और यह बात किसी एक स्त्री के बारे में सही नहीं है। अतः नारी के प्रति आकृष्ट होना, उसके रूप के प्रति समर्पित होना स्वाभाविक ही है। जहाँ तक उसके सौन्दर्य का प्रश्न है, वह प्रकृति का अन्यतम रूप है और प्रत्येक में अपने सम्पूर्ण वैशिष्ट्य के साथ विद्यमान है, जिसकी कभी भी पुनरावृत्ति नहीं होती और जो हर अभिव्यंजना में सम्पूर्ण होकर ही अपने को

प्रस्तुत करता है। यही विलक्षण आकर्षण और दूसरों के लिए अस्तित्ववान होना–नारी अस्तित्व की विशेषता है और इसी कारण वह उसे एक विशेष कोटि में प्रस्तुत करता है। यह कोटि अस्तित्व परक है और इस लिए इसके माध्यम से हमें एक विशेष प्रकार के अस्तित्व का अंतरंग बोध होता है।

सोरेन किर्केगार्ड 'कार्डेलिया' एवं 'जोहानेज' के अन्तरंग जीवन के चित्रण के द्वारा मानव जीवन के जिस सौन्दर्यात्मक अवस्था का वर्णन करते हैं, उससे यह स्पष्ट होता है कि किर्केगार्ड नारी के रूप का अंततः प्रकृति के सम्पूर्ण सौन्दर्य का चित्रण करके प्रकृति के प्रति भोगेच्छा से उत्पन्न सुख को ही अंकित करना चाहते हैं। सोरेन किर्केगार्ड मानव जीवन की जिस सौन्दर्यात्मक अवस्था को अपने अस्तित्ववादी चिन्तन में उद्घाटित करने का प्रयास करते हैं, वह एक सौन्दर्यात्मक जीवन शैली से ही मिलता है जिसका आदर्श रूप हमें Don Juan में मिलता है जो मात्र क्षणिक सुखों के लिए ही जीता है, पर ये सुख क्षणिक ही तो होते हैं, किन्तु इन्हीं में वह सम्पूर्णता का शाश्वतता का अनुभव करता है और उससे वह सुखानुभूति करता है। इस Don Juan का अत्यधिक परिष्कृत रूप हमें 'जोहानेज' के व्यक्तित्व में मिलता है जो किसी स्थायी सम्बन्ध की स्थापना में विश्वास नहीं करता है। प्रत्येक नारी उसके लिए केवल एक नारी ही है इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। प्रत्येक क्षण जो उसके सानिध्य में जिया गया है, मात्र एक क्षण ही है, क्षण भर का उल्लास, जिसकी महत्ता उसी क्षण समाप्त हो जाती है जिस क्षण वह उल्लास समाप्त हो जाता है। पर यहां पर यह स्मरणीय है कि 'सुख' किसी भी प्रकार का हो सकता है–स्थूल पार्थिव से लेकर विशुद्ध सात्विक तक इसका प्रसार हो सकता है, किन्तु इसके प्रति उसके दृष्टिकोण में कोई बदलाव नहीं आता है। किर्केगार्ड का मानना है कि इस प्रकार जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति सुख के साथ–साथ प्रायः 'ऊब' का भी अनुभव करता है।

8.10 सौन्दर्यात्मक अवस्था में उत्पन्न 'ऊब'

सोरेन किर्केगार्ड का यह मानना है कि सुखोपभोग में संलिप्त होकर जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति को सुख से ऊब होने लगती है। उस 'ऊब' से बचने के लिए वह निरन्तर नवीन पलों की खोज करता है जिसमें पुराने सुखों की पुनरावृत्ति न हो या कभी–कभी वह बार–बार उन सुखों की कामना भी करता है, ताकि वह उस 'ऊब' से कुछ समय के लिए बच सके। पर यह निश्चित है कि इस प्रक्रिया के माध्यम से उसे किसी प्रकार की शान्ति नहीं मिलती। इसलिए उसके हृदय में जगत के प्रति एक 'विराग' या 'वितृष्णा' उत्पन्न हो जाती है। यह सौन्दर्यात्मक जीवन स्तर का ही एक अन्य बदलाव है और इसी मनः स्थिति का प्रतिनिधित्व ऐतिहासिक चरित्र के रूप में 'Faust' के रूप में प्रतीक बनकर आता है। 'Faust' को जगत से पूर्णतया वितृष्णा हो जाती है। उसका हृदय पूर्णतः कामना रहित हो जाता है। किसी भी सांसारिक वस्तु को पलभर के लिए स्वीकार

करने को उसका मन नहीं करता। इसी प्रतिक्रिया की अत्यधिक सशक्त अभिव्यंजना हमें 'अहवरस' में मिलती है, जो एक जगह स्थिर होकर नहीं रह पाता क्योंकि उसका चित्त पूर्णतः अशान्त है, भटकाव की स्थिति में है और उससे उबरने का कोई रास्ता उसे दिखाई नहीं देता है।

किसी भी व्यक्ति की चेतना की अंभिव्यंजना में 'ऊब' की यह स्थिति बहुत ही महत्वपूर्ण है। 'ऊब' की इस स्थिति में व्यक्ति के समक्ष दो विकल्प उपस्थित होते हैं– या तो वह क्षुब्ध और हताश होकर पुनः भीड़ में, सामान्य जन-जीवन में अपनी अस्मिता का हमेशा के लिए विलय कर ले। यदि पूर्व विकल्प बहुत अच्छा नहीं है, किन्तु अनेक लोगों के लिए इसके अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प दिखायी नहीं पड़ता है, या फिर वह छलांग द्वारा किसी दूसरी जीवन शैली के वरण का निर्णय ले ले, जो 'नैतिक' या धार्मिक जीवन शैली में से एक हो सकती है। सोरेन किर्केगार्ड का कहना है कि सामान्यतः व्यक्ति सौन्दर्यपरक जीवन शैली की 'ऊब' से त्रस्त होकर नैतिक जीवन शैली का ही वरण करता है, क्योंकि उसमें उसे सुरक्षा दिखायी देती है, जो किसी भी व्यवस्थित जीवन शैली के अन्तर्गत प्राप्त हो सकती है।

8.11 निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि सोरेन किर्केगार्ड ने मानव अस्तित्व की अवस्था के रूप में जिस नैतिक जीवन शैली का उल्लेख किया है, उसके अन्तर्गत नैतिक जीवन शैली व्यतीत करने वाले व्यक्ति का जीवन सार्वभौम नियमों से नियंत्रित है। मानव अस्तित्व की नैतिक अवस्था में नैतिक नियम व्यक्ति की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण होते हैं, उसकी अधीनता स्वीकार करने वाला व्यक्ति मानवों में श्रेष्ठ माना जाता है और उसका व्यवहार सभी के लिए आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इसी के साथ किर्केगार्ड यह भी कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति का जीवन क्योंकि अधिक मानवीय होता है, इसलिए उसकी भावनाओं का समुचित सम्प्रेषण होता है, लोग उसकी बात को समझते हैं और इस समझ और अपने अनुमोदन से उसे बल प्रदान करता है। परन्तु किर्केगार्ड का यह भी मानना है कि वास्तविक परिस्थितियों में नैतिक नियम किसी चुनाव में सहायक नहीं होते हैं। नैतिक नियमों की इस प्रकार की विफलता से मनुष्य निराश होता है और उसका जीवन धार्मिक जीवन शैली की ओर उन्मुख हो जाता है।

8.12 सारांश

सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार मानव अस्तित्व की तीन अवस्थाओं में सौन्दर्यात्मक स्तर जीवन में मनुष्य का तात्कालिक सम्पर्क जगत की वस्तुओं से होता है। इस अवस्था में मनुष्य में सुखोपभोग की प्रवृत्ति उसका सबसे प्रमुख प्रेरक बन जाती है। इस अवस्था में मनुष्य उन्हीं वस्तुओं में रुचि लेता है, जिससे उसे वैयक्तिक सुख मिल सके।

किर्केगार्ड ने मनुष्य के सौन्दर्यात्मक अवस्था के तीन लक्षण हैं–तात्कालिकता, संशय और नैराश्य हैं। सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार सौन्दर्यात्मक अवस्था में सुखोपभोग की इच्छा रखने वाले सभी लोगों के सुख एक ही प्रकार के नहीं होते हैं। इस अवस्था में सुख की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों का सुख क्षणिक होता है। इसलिए सौन्दर्यात्मक स्तर का जीवन जीने वाले व्यक्ति के लिए प्रत्येक क्षण की सार्थकता है। सोरेन किर्कोगार्ड 'द सेड्यूसर्स डायरी' में 'कार्डेलिया' तथा 'सेड्यूसरस जोहानेज' के माध्यम से सौन्दर्यात्मक जीवन के कुछ अन्तरंग विशिष्टताओं को प्रस्तुत करते हैं। परन्तु सोरेन किर्केगार्ड का मानना है कि सुखोपभोग में संलिप्त होकर जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति के जीवन में ऐसा भी क्षण आता है जब उसकी सुख से 'ऊब' होने लगती है। किर्केगार्ड का कहना है कि किसी भी व्यक्ति की चेतना की अभिव्यंजना में 'ऊब' की यह स्थिति बहुत महत्वपूर्ण है। 'ऊब' की इस स्थिति में व्यक्ति के समक्ष दो विकल्प उपस्थित होते हैं– या तो वह क्षुब्ध या हताश होकर पुनः भीड़ में सामान्य जन-जीवन में अपनी अस्मिता का हमेशा के लिए विलय कर ले अथवा वह 'छलांग' द्वारा किसी दूसरी जीवन शैली के वरण का निर्णय ले। सोरेन किर्केगार्ड का यह कहना है कि सामान्यतः व्यक्ति सौन्दर्यपरक जीवन शैली की 'ऊब' से त्रस्त होकर नैतिक जीवन शैली का ही वरण करता है, क्योंकि उसमें उसे सुरक्षा दिखायी पड़ती है, जो किसी भी व्यवस्थित जीवन शैली के अन्तर्गत प्राप्त हो सकती है।

8.13 बोध प्रश्न

1. सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार मानव अस्तित्व की सौन्दर्यात्मक अवस्था का विवेचन कीजिए।
2. 'मानव जीवन का सौन्दर्यात्मक स्तर सुखोपभोग की अवस्था है।' विवेचन कीजिए।

8.14 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन पाश्चात्य दर्शन–प्रो0 बी0के0 लाल
2. अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक – लक्ष्मी सक्सेना व सभाजीत मिश्र
3. Existentiatism as a Philosophy- Molina

इकाई–09 सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार मानव अस्तित्व की नैतिक अवस्था

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2.1 मानव अस्तित्व की नैतिक अवस्था के सम्बन्ध में किर्केगार्ड एवं काण्ट की मान्यताएं।

9.2.2 चयन की स्वतंत्रता

9.2.3 सोरेन किर्केगार्ड एवं काण्ट की मानवीय स्वतंत्रता में अन्तर

9.2.4 सोरेन किर्केगार्ड के दर्शन में व्यक्ति

9.2.5 सोरेन किर्केगार्ड का दर्शन व्यक्ति के जीवन का नितान्त निजी विवेचन है

9.2.6 मानव जीवन के तीन स्तर

9.3 सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार मानव अस्तित्व की नैतिक अवस्था।

9.3.1 सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार नैतिक व्यक्ति कर्त्तव्य परायण होता है।

9.3.2 नैतिकता की अवस्था अपने से अन्य को सम्बद्ध करने की अवस्था है।

9.3.3 नैतिकता की अवस्था में व्यक्ति का नितान्त एकाकी होना।

9.4 सोरेन किर्केगार्ड ने नैतिकता की अवस्था को 'शुभ' और सुन्दर के रूप में व्यंजित किया है।

9.5.5 किर्केगार्ड की नैतिकता आत्म केन्द्रित है।

9.6 निष्कर्ष

9.7 सारांश

9.8 बोध-प्रश्न

9.9 उपयोगी-पुस्तकें

9.0 उद्देश्य

- सोरेन किर्केगार्ड का यह मानना है कि सांसारिक सुखों से जब 'ऊब' होने लगती है तो मानव की आन्तरिक अवस्थाओं में बदलाव होता है और मनुष्य नैतिक अवस्था की ओर छलांग लगाता है। मनुष्य की नैतिक अवस्था की इस 'छलांग' का निरूपण करने की चेष्टा की गयी है।
- नैतिक आदेश बड़े अमूर्त होते हैं और विशिष्ट परिस्थितियों में मात्र इन आदेशों

के आधार पर यह तय करना कठिन हो जाता है कि कौन सा मार्ग वस्तुतः नैतिक है। इस प्रकार सोरेन किर्केगार्ड के नैतिक अवस्था में वर्णित नैतिक मार्ग का सम्यक निरूपण करने का प्रयास किया जा रहा है।

- सोरेन किर्केगार्ड यह दिखलाते हैं कि मानव अस्तित्व की नैतिक अवस्था में 'स्व' एवं 'अन्य' के बीच कभी–कभी एक दूसरे से सम्बद्धता की स्थिति में तनाव उत्पन्न हो जाता है और तनाव के इस अनुभूति में निराशा की अनुभूति होती है। प्रस्तुत इकाई में मानव अस्तित्व के नैतिक अवस्था में उद्‌भूत निराशा से जो बदलाव आता है उसका निरूपण किया गया है।

9.1 प्रस्तावना

सोरेन किर्केगार्ड अपने अस्तित्ववादी चिन्तन का प्रमुख लक्ष्य अस्तित्वपरक दृष्टि को प्राप्त करना है और उसे जीवन शैली के रूप में बदलना है। इसलिए मानव–अस्तित्व की दृष्टि से वे जीवन के अन्तरंग पर्तों को उसके जीवन प्रवाह की अनगिनत लहरों को शब्दबद्ध करना चाहते हैं और पाठकों से संवाद स्थापित करके उन्हें भी इस दिशा में सक्रिय होने के लिए आमंत्रित करना चाहते हैं। सोरेन किर्केगार्ड का मानना है कि किसी भी व्यक्ति के व्यवहार का मूल्यांकन किसी भी अमूर्त आदर्श के आधार पर नहीं संभव है, केवल एक ही कसौटी संभव नहीं है जिसके आधार पर सभी व्यक्तियों के आचरण का मूल्यांकन किया जाए। सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार यह बात बेमानी है कि सभी व्यक्तियों के लिए 'सत्य' कोई एक निर्विकार सार्वभौम रूप है, जिसको हम सभी का आदर्श कह सकते हैं, और जिसके अन्तर्गत हम सभी के कार्यों का मूल्यांकन कर सकते हैं। अतएव सोरेन किर्केगार्ड ने हमारे समक्ष इस बात को रखने की चेष्टा करते हैं कि मानवीय व्यवहार सही अर्थों में तभी स्वतंत्र हो सकता है जब उसे अपने दिशाओं के चयन की स्वतंत्रता हो। इसी के साथ उन्होंने यह बात भी जोड़ी कि वह दिशा एक नहीं हो सकती है और यह भी यदि हृदयकी पूर्ण प्रतिबद्धता के साथ इनमें से किसी व्यक्ति द्वारा किसी का चुनाव किया जाए तो वह चुनाव उतना ही आप्त होगा, जितना कि कोई दूसरा। किर्केगार्ड ने मानव अस्तित्व के सौन्दर्यात्मक अवस्था के निरूपण में यह पाया कि सौन्दर्यात्मक जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति का चित्त पूर्णतः अशान्त होता है। उसके समक्ष दो विकल्प प्रस्तुत हैं यह तो वह क्षुब्ध एवं हताश होकर पुनः भीड़ में सामान्य जन जीवन में अपनी अस्मिता का हमेशा के लिए विलय कर दे। यद्यपि यह विकल्प बहुत अच्छा नहीं है किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नजर नहीं आता, यह फिर वह छलांग द्वारा भी किसी दूसरी जीवन शैली के चुनाव का निर्णय ले, जो 'नैतिक' अथवा धार्मिक में से कोई हो सकती है। परन्तु सामान्यतः व्यक्ति सौन्दर्यपरक जीवन शैली की 'ऊब' कर नैतिक जीवन शैली का ही वरण करता है, क्योंकि उसमें उसे सुरक्षा की प्रतीति होती है, जो किसी भी व्यवस्थित जीवन शैली के अन्तर्गत प्राप्त हो सकती है।

किर्केगार्ड ने मानव अस्तित्व के नैतिक स्तर के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि सौन्दर्यपरक जीवन शैली के विपरीत नैतिक जीवन में व्यक्ति अपनी खुशियों के लिए नहीं जीता किन्तु इसका आशय यह भी नहीं है कि नियमित जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति जब नियमों को स्वेच्छा से स्वीकार करता है, वह पूर्णतः 'वर्ग' का हो जाता है, वह अपने को भीड़ में खो देता है। यह बात काण्ट ने भी नहीं कही है, क्योंकि काण्ट जब मानवीय स्वतंत्रता की बात करते हैं तो उसी के अन्तर्गत यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि सम्पूर्ण नैतिक आदर्शों का स्रोत स्वयं है और उसी के माध्यम से व्यक्ति न केवल सार्वभौम के अन्तर्गत अपने जीवन को समर्पित कर देता है अपितु उसी के माध्यम से अपने गहनतम अपेक्षाओं को भी पूरा करता है। यही कारण है कि काण्ट ने नैतिकता के अन्तर्गत साध्यों के साम्राज्य की जो कल्पना की है उस आदर्श समाज के केन्द्र में 'व्यक्ति' को स्थापित किया। किर्केगार्ड की भी अस्तित्वपरक जीवन शैली के केन्द्र में 'व्यक्ति' ही है।

9.2.1 मानव अस्तित्व की नैतिक अवस्था के सम्बन्ध में किकगार्ड एवं काण्ट की मान्यताएँ–

सोरेन किर्केगार्ड मानव अस्तित्व के नैतिक जीवन का जो चित्र प्रस्तुत करते हैं वह काण्ट के दृष्टिकोण से पर्याप्त साम्यता रखता है, जो कुछ काण्ट मानव अस्तित्व के गौरव के लिए गौरवमय एवं श्लाघनीय मानते हैं वह सभी कुछ किर्केगार्ड भी स्वीकार करते हैं। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि काणट जिन नियमों को अनुशासित जीवन के लिए अनिवार्य मानते हैं उनके औचित्य का आधार मानवीय बुद्धि है, जबकि सोरेन किर्केगार्ड बुद्धिपरक दृष्टिकोण को न अपनाकर अस्तित्वपरक दृष्टिकोण अपनाते हुए यह विचार व्यक्त करते हैं कि बुद्धि का अस्तित्व महत्वपूर्ण आयामों के साथ न्याय करने में सर्वथा अक्षम है। इसलिए काण्ट जैसी दिखने पर भी किर्केगार्ड की नैतिक जीवन शैली अपने मूल स्वर में उससे नितान्त भिन्न है। किर्केगार्ड का यह मानना है कि जिन मूल्यों को हम जीवन में स्वीकार करते हैं, जिन आदर्शों के तहत हम अपना जीवन व्यतीत करने का संकल्प करते हैं– वे हृदय से पूर्णतया समर्थित होने चाहिए, तभी हम इस जीवन शैली के साथ न्याय कर सकते हैं। किर्केगार्ड जीवनशैली के चुनाव में किसी प्रकार की दबाव की संभावना को स्वीकार नहीं करते हैं।

9.2.2 चयन की स्वतंत्रता

सोरेन किर्केगार्ड का यह मानना है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन शैली के चयन की पूर्ण स्वतंत्रता है। उससे किर्केगार्ड के अनुसार एक ही अपेक्षा है कि वह उस चयन से सम्बद्ध दायित्वों को हृदयकी पूरी प्रतिबद्धता के साथ स्वीकार करे। यही नहीं किर्केगार्ड कहते हैं कि उसे इस बात की पूरी छूट है कि वह जब भी चाहे एक शैली का परित्याग कर दूसरें में प्रवेश ले सकता है और उसके इस परिवर्तन का कोई तार्किक

आधार ढूँढना संभव नहीं है क्योंकि वह तार्किक आधार है ही नहीं। इसी बात को वे व्यक्त करते हुए कहते हैं कि– ''हमारा चुनाव पूर्णतः स्वतंत्र होता है, उसका कोई तार्किक आधार नहीं होता है, किर्केगार्ड 'छलांग' शब्द से व्यक्त करते हैं।''

परन्तु किसी जीवन शैली के चुनाव का तार्किक आधार न होने का यह आशय नहीं है कि व्यक्ति मनमानी करने को स्वतंत्र है। किर्केगार्ड का सम्पूर्ण दर्शन इस संभावना को अपने तरीके से ध्वस्त करने की चेष्टा करता है कि हृदय मनमानी न कर सके, इसीलिए हृदय की सच्चाई का उसकी प्रतिबद्धता का बार–बार वास्ता देते हैं।

5.2.3 सोरेन किर्केगार्ड एवं काण्ट की मानवीय स्वतंत्रता में अन्तर

यद्यपि सोरेन किर्केगार्ड एवं काण्ट दोनों ही मानवीय स्वतंत्रता की बात करते हैं किन्तु दोनों के ही दृष्टिकोण में मूल–भूत अंतर है। काण्ट के जीवन की दृष्टि पूर्णतः बौद्धिक है। वह शुद्ध बौद्धिक प्रतिमान को ही नैतिक प्रतिमान के रूप में प्रसारित करते हैं। सोरेन किर्केगार्ड के अस्तित्ववादी दर्शन में मानवीय व्यवहार को दिशा देने के कार्य में बुद्धि का लेशमात्र भी योगदान नहीं है। यही नहीं काण्ट ने व्यक्ति की वैयक्तिकता को एक सार्वभौम, निर्विकार सत् के समक्ष पूर्णतः तिरोहित कर दिया है, जबकि किर्केगार्ड का सम्पूर्ण दर्शन इस दृष्टि के विरोध ही में अपने स्वर को मुखर करता है।

5.2.4 सोरेन किर्केगार्ड के दर्शन में व्यक्ति

सोरेन किर्केगार्ड के दर्शन में व्यक्ति ही प्रतिष्ठित है। किर्केगार्ड व्यक्ति के ही जीवन की आप्तता के विभिन्न आयामों को प्रस्तुत करने का प्रयास करता है और सहज रूप से अपने प्रतिबद्धता के स्वरों को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि मन में उस जीवन के प्रति एक सहज आकर्षण भाव जाग सके। किर्केगार्ड हृदयसे ईसाई था और अपने जीवन के व्यक्तिगत निर्णय के माध्यम से उसने धार्मिक जीवन शैली को जो रूप दिया है वह अद्वितीय है। एक धार्मिक व्यक्ति की अपने से क्या अपेक्षा हो सकती है, इसका उसे पूरा–पूरा अनुभव था और यह भी कि वह उस जीवन की उच्चतम उड़ान को ले सकने में पूर्णतः अक्षम है। यही नहीं, न चाहते हुए भी अपनी जीवन दृष्टि की मूल स्वीकृति के विपरीत वह हमसे भी मन के किसी अदृश्य कोने से यह अपेक्षा करता है कि हम न केवल अपने में इस जीवन शैली की सच्चाइयों एवं गहराइयों के प्रति संवेदनशीलता विकसित करें बल्कि उसके आह्वान की गरिमा को समझते हुए हृदय की पूर्ण प्रतिबद्धता के साथ अपने को ही अर्पित कर दें।

9.2.5 सोरेन किर्केगार्ड का दर्शन व्यक्ति के जीवन का नितान्त निजी विवेचन है

सोरेन किर्केगार्ड के दर्शन में हमें 'व्यक्ति' के जीवन की नितांत निजी अनुभूतियों का बड़ा ही सशक्त चित्रण मिलता है। परन्तु जिस व्यक्ति की गहराइयों में उतरकर उसके भीतर के जीवन को अंकित करता है, वह सामान्य से भिन्न व्यक्ति अवश्य है।

सारेन किर्केगार्ड का मानना है कि व्यक्ति का केवल एक जैविकीय अस्तित्व नहीं है, जिसका जीवन यंत्रवत मात्र जैविकीय वृत्तियों से ही संचालित है और न ही वह सचेतन अस्तित्व है, जो समाज की सदस्यता ग्रहण करते हुए मात्र उसी का होकर रह जाता है, उसी से संचालित होता है और उसी के प्रतिमान से पूर्णतः निःशेष रूप से नियंत्रित है। वह एक ऐसे अस्तित्व की बात करता है जो पूर्णतः अपनी अस्मिता की खोज में लगा हुआ है और 'अस्तित्व' की बात करता है। वह एक ऐसा मनुष्य है, जिसने अपनी अस्मिता की खोज के लिए अपनी दिशाओं का अपनी आन्तरिक प्रकृति के अनुरूप चयन भी किया है, जिसे अन्य शब्दों में किसी बाह्य निर्देशन की आवश्यकता नहीं है।

9.2.6 मानव जीवन के तीन स्तर –

सोरेन किर्केगार्ड मानव जीनव के तीन स्तरों का भव्य चित्र प्रस्तुत करते हैं। वह इस तीन स्तर के जीवन स्वीकृतियों में किसी प्रकार के समझौते की कल्पना नहीं करते हैं। यहीं पर उनका स्पष्ट विरोध हेगेल के द्वन्द्व न्याय से व्यक्त होता है। हेगल उच्च एवं निम्न जीवन दृष्टियों की बात करते हैं, पर यह मानते हैं कि एक उच्चतर समग्र दृष्टि में सभी निम्न दृष्टियों को उनकी परिपूर्णता प्राप्त हो जाएगी। इस प्रकार के समन्वय की कोई कल्पना किर्केगार्ड को स्वीकार्य नहीं है जब तक कि किसी भी जीवनशैली का व्यक्ति चुनाव करता है और उसे ह्रदय के साथ पूरी सच्चाई के साथ जीता है, तब तक उस जीवन शैली की स्वीकृति में कोई विरोध नहीं है। परन्तु जब उस जीवन शैली का परित्याग कर वह किसी नवीन जीवनशैली का वरण करता है, तो पिछली जीवन शैली का कुछ भी कायम रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी बात को उनकी एक पुस्तक के शीर्षक के माध्यम से व्यक्त किया जा सकता है– 'या यह या वह' (Either/Or)। जब व्यक्ति छोड़ता है, तो छलांग के साथ छोड़ता है और इसलिए कि वह एक दूसरे के लिए मन से तैयार हो चुका है। यही कारण है कि उसकी यह स्वीकृति किन्ही 'वस्तुपरक तार्किक' आधारों की अपेक्षा नहीं करती। ये आधार वस्तुतः मनोवैज्ञानिक हैं और एक–एक जीवन शैली के भीतर से गुजरते हुए व्यक्ति के संघर्षों उसके भावों एवं संवेगों, उसकी प्रतिक्रियाओं को किर्केगार्ड बड़ी ही काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत करते हैं। सोरेन किर्केगार्ड मानव जीवन के तीन स्तरों की बात करते हैं, उसमें प्रत्येक अवस्था का दूसरी अवस्था में परिवर्तन सभंव है और इस परिवर्तन में एक क्रम है।

9.3 सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार मानव अस्तित्व की नैतिक अवस्था

सोरेन किर्केगार्ड का मानना है कि मानव अस्तित्व की सौन्दर्यात्मक अवस्था में पायी जाने वाली कमियां नैतिक अवस्था से दूर होती हैं। किर्केगार्ड के अनुसार नैतिक अवस्था अपेक्षा की अवस्था है। नैतिकता की अवस्था में व्यक्ति वर्तमान तथा तात्कालिक इच्छाओं से ऊपर उठने की आवश्यकता अनुभव करता है, तथा अन्य से अपने विचारों

तथा क्रियाओं को सम्बन्धित करता है। यही कारण है कि किर्केगार्ड यह कहते हैं कि मानव का 'नैराश्य' उसे सौन्दर्यशीलता के स्तर से नैतिकता के स्तर में बदलाव का उपादान बनता है। किर्केगार्ड इस बात से सहमत हैं कि नैतिक अस्तित्व की प्रमुख विशेषता कर्तव्य है। नैतिकता के सम्बन्ध में किर्केगार्ड कोई दार्शनिक तार्किक आधार नहीं प्रस्तुत किया है। काण्ट ने अपनी नैतिकता में कर्तव्यनिष्ठा को तर्कसमर्थित स्थान दिया था, किर्केगार्ड ने उसे स्वीकार कर लिया और कर्तव्य को नैतिकता का प्रमुख लक्षण मान लिया। किर्केगार्ड को विश्वास है कि नैतिकता केवल सामाजिक रीति–रिवाजों पर अवलम्बित नहीं है, बल्कि उसका नियंत्रण ईश्वर के द्वारा होता है। इसके अतिरिक्त नैतिकता के सिद्धांत व्यक्तिगत इच्छा पर आधारित न होकर सार्वभौमिक होते हैं। वे व्यक्ति निरपेक्ष होने के कारण बिना किसी अपवाद के सब पर लागू होते हैं। नैतिकता व परिणाम सुखवादियों की भांति निराशाजनक नहीं होता है। इसके परिणाम में स्वतंत्रता एवं स्थिरता प्राप्त होती है।

9.3.1 सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार नैतिक व्यक्ति कर्त्तव्य परायण होता है–

सोरेन किर्केगार्ड यह मानता है कि सुखोपभोग की इच्छा रखने वाला व्यक्ति आत्मकेन्द्रित होता है किन्तु नैतिक व्यक्ति कर्तव्य परायण होता है। मानवीय कर्तव्य विशेष न होकर सामान्य होते हैं। नैतिकता आत्मकेन्द्रित न होकर समान्य होती है। सुख को ही सर्वोपरि मूल्य माननने वाले लोग अन्य लोगों को अपने समान ही सुख प्राप्त करने का अधिकार नहीं देना चाहते हैं, किन्तु नैतिक व्यक्ति जो अधिकार अपना समझता है, उतना ही अधिकार दूसरे लोगों को प्रदान करना अपना कर्तव्य समझता है। नैतिकता का यह नियम समाज के सभी लोगों पर समान रूप से लागू होता है।

9.3.2 नैतिकता की अवस्था अपने से अन्य को सम्बद्ध करने की अवस्था है।

सोरेन किर्केगार्ड का मानना है कि सुखोपभोग की इच्छा से मनुष्य में उत्पन्न 'नैराश्य' का मूल कारण उसका 'स्व' के प्रति अत्यधिक लगाव था। यह लगाव उसे अपने में आबद्ध किये थे, उसे पूर्णतया 'एकाकी' बनाये था। यही कारण है कि अब मनुष्य को इस 'स्व' या 'एकाकीपन' से बाहर निकलने के लिए अपने को अन्य से सम्बद्ध करना पड़ता है। अपने से अन्य को सम्बद्ध करने की आवश्यकता (Requirement) के कारण मनुष्य 'अन्य' के महत्व को समझता है, तथा 'स्व' से ऊपर उठकर 'अन्य' की ओर उन्मुख होता है। अब वह अपने को परिवार, समाज, राज्य, इत्यादि से सम्बन्धित करता है ओर उनसे सम्बन्धित दायित्व उठाने का संकल्प करता है। अब वह एक सामाजिक प्राणी बन जाता है तथा नैतिक आदर्शों को दृष्टि में रखते हुए अन्य से सम्बन्धित परोपकार का कार्य करता है। किर्केगार्ड अपनी पुस्तक Either/Or को दो खण्डों में सौन्दर्यात्मक एवं नैतिक अवस्था के दो स्थितियों का विवरण देता है और यह स्पष्ट रूप में कहता है कि सौन्दर्यशीलता या संवेदनशीलता की अवस्था आत्मकेन्द्रित थी कि नैतिकता की अस्था

'अन्य' से सम्बन्धित है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नैतिकता की अवस्था में 'व्यक्ति' के वैयक्तिकता का सर्वथा अभाव होता है, क्योंकि यह निर्णय कि उसे 'स्व' को अन्य से सम्बद्ध करना है, उसी वैयक्तिकता का निर्णय है। किर्केगार्ड का कहना है कि इस स्तर में व्यक्ति स्वयं यह निर्णय लेता है कि उसे सौन्दर्यात्मक अवस्था से उत्पन्न नैराश्य से मुक्त होने के लिए अन्य के प्रति दायित्वों एवं कर्तव्यों का पालन करता है।

9.3.3 नैतिकता की अवस्था में व्यक्ति का नितान्त एकाकी होना –

किर्केगार्ड का मानना है कि मानव जीवन में नैतिकता की अवस्था में भी एक प्रकार की नैतिक निराशा ही मिलती है। नैतिकता के आदेश बड़े अमूर्त होते हैं। विशिष्ट परिस्थिति में मात्र इन आदेशों के आधार पर यह तय करना कठिन हो जाता है कि कौन सा मार्ग वस्तुतः नैतिक है। वास्तविक परिस्थितियों में नैतिक नियम किसी चुनाव में सहायक सिद्ध नहीं हो पाते। नैतिक नियमों की ऐसी विफलता से मनुष्य 'निराश' होता है। वह (नैतिक व्यक्ति) जिस नैराश्य से ऊपर उठने के लिए 'स्व' से ऊपर उठकर 'अन्य' के साथ अपने को सम्बद्ध करता है, उस नैराश्य से क्षणिक त्राण मिलता है भले ही प्रतीत हो, किन्तु यह अवस्था भी एक दूसरे प्रकार का तनाव उत्पन्न करती है। यह तनाव है 'स्व' एवं 'अन्य' से सम्बद्ध होने की प्रवृत्तियों का। यह अनुभूति भी 'निराशा' की अनुभूति है। अतएव यह अनुभूति भी मानव अस्तित्व के सम्पुष्टि का आधार नहीं हो सकती।

सोरेन किर्केगार्ड का यह मानना है कि मानव अस्तित्व की नैतिकता की अवस्था में उत्पन्न 'नैराश्य' मनुष्य में इस सम्पुष्टि की आकांक्षाओं में पुनः स्तरीय बदलाव का उपादान प्रकट होता है और यह स्तर धार्मिकता के स्तर में बदलने लगता है। धार्मिकता के स्तर पर मनुष्य के नैतिकता की उपेक्षा नहीं होती है, केवल उसका महत्व कम हो जाता है। नैतिकता के कारण मनुष्य 'अन्य' के महत्व को समझता है तथा 'स्व' से ऊपर उठकर अन्य की ओर उन्मुख होता है। अब वह अपने परिवार, समाज, राज्य इत्यादि से सम्बद्ध करता है और उनसे सम्बन्धित दायित्व उठाने का संकल्प करता है। अब वह एक सामाजिक प्राणी बन जाता है तथा नैतिक आदर्शों को दृष्टि में रखते हुए 'अन्य' से सम्बन्धित परोपकार का कार्य करता है। किर्केगार्ड अपनी पुस्तक आइदर/आर के दो खण्डों में सौन्दर्यात्मक एवं नैतिक अवस्था के दो स्थितियों का विवरण देता है और यह स्पष्ट रूप में कहता है कि सौन्दर्यात्मक या संवेदनशीलता की अवस्था आत्मकेन्द्रित थी, किन्तु नैतिकता की अवस्था अन्य से सम्बन्धित है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नैतिकता की अवस्था में व्यक्ति के वैयक्तिकता का सर्वथा अभाव होता है, क्योंकि यह निर्णय उसे 'स्व' को 'अन्य' से जोड़ना है, उसी वैयक्तिकता का निर्णय है। किर्केगार्ड का कहना है कि इस स्तर में व्यक्ति स्वयं यह निर्णय लेता है कि उसे सौन्दर्यात्मक अवस्था के नैराश्य से मुक्त होने के लिए 'अन्य' के प्रति दायित्वों एवं कर्त्तव्यों का पालन करना

है।

9.5.4 सोरेन किर्केगार्ड ने नैतिकता की अवस्था को 'शुभ' और सुन्दर के रूप में व्यंजित किया है

किर्केगार्ड का कहना है कि यूँ तो किसी भी जीवन शैली को अपनाने में व्यक्ति नितान्त 'एकाकी' होता है किन्तु नैतिक जीवन शैली के विषय में यह एकाकीपन और अधिक मुखर हो जाता है। कोई भी व्यक्ति किसी प्रतिबद्धता के साथ जीवन के स्वीकृत मूल्यों को जी रहा है, इसके सम्बन्ध में कोई दूसरा क्या कह सकता है?

9.5.5 किर्केगार्ड की नैतिकता आत्म केन्द्रित है

किर्केगार्ड की नैतिकता आत्म केन्द्रित है उसका कहना है कि नैतिक मार्ग पर अग्रसर होने के लिए हमें सबसे पहले अपना चिन्तन अन्तर्मुखी करना होगा। किर्केगार्ड का मानना है कि आत्मगत चिन्तन स्वयं एक मूल्यवान कार्य हैं यह केवल चिन्तन ही नहीं, बल्कि एक क्रिया है। किर्केगार्ड आत्मकेन्द्रित नैतिकता को 'मृत्यु' के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। उनका कहना है कि हम अपनी मृत्यु पर विचार करते ही एकदम गम्भीर हो जाते हैं, हमारे आचरण में अन्तर आ जाता है। अतएव स्पष्ट है कि आत्मगत चिन्तन स्वयं एक क्रिया है, इसका हमारे जीवन में वास्तविक अस्तित्व है।

9.5.6 निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि सोरेन किर्केगार्ड के अस्तित्ववादी दर्शन में यह स्पष्ट किया गया है कि मानव जीवन का नैतिक स्तर भी अन्तिम स्तर नहीं है, इस स्थिति में भी मनुष्य को 'स्व' एवं 'अन्य' की बीच सम्बन्ध जोड़ने में तनाव से गुजरना पड़ता है। यह तनाव व्यक्ति में 'निराशा' को जन्म देता है। इसलिए मनुष्य अपने जीवन शैली में बदलाव की ओर उन्मुख होता है। वह धार्मिक भावना की ओर अग्रसर होने लगता है। वास्तविकता यह है कि नैतिक जीवन शैली में मूल्यों के प्रति व्यक्ति की प्रतिबद्धता महत्वपूर्ण है। वही इस बात को निर्धारित भी करती है कि व्यक्ति किस प्रकार का जीवन व्यतीत कर रहा है। परन्तु 'व्यक्ति किस प्रकार का जीवन व्यतीत कर रहा है' यह निश्चित करना किसी वस्तुगत साक्ष्य के आधार पर संभव नहीं है और न ही कोई अन्य व्यक्ति इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का साक्ष्य प्रस्तुत कर सकता है। व्यक्ति को स्वयं ही अपने आपको साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत करना होगा। यही उसके जीवन की अन्तरंग सच्चाई को वस्तुपरक सच्चाई से पृथक करता है और उसे धार्मिक जीवन शैली के बहुत निकट ले जाता है क्योंकि इस शैली का वरण करने वाला व्यक्ति अपने निर्णयों से बिल्कुल 'एकाकी' होता है। यही नहीं, यदि वह अपनी बात किसी से कहना भी न चाहे तो भी उसे दूसरा व्यक्ति समझ न सकेगा, क्योंकि दोनों में किसी प्रकार की संवादिता संभव नहीं है। इस प्रकार ऐसा व्यक्ति नैतिक व्यक्ति से मूलतः भिन्न हो जाता

है, क्योंकि धार्मिक व्यक्ति का ईश्वर में विश्वास होता है। ऐसे व्यक्ति का ईश्वरीय आदेश के प्रति पूर्ण प्रतिबद्धता और समर्पण होता है तथा वह अपनी आन्तरिकता से पूर्णतः स्थिर एवं आश्वस्त होता है। अतएव किर्केगार्ड यह दिखाते हैं कि मानव–जीवन के नैतिकता के स्तर पर उत्पन्न 'नैराश्य' जीवन की स्थिरता के प्रति कोई आश्वासन नहीं देता है। यही कारण है कि मानव अपने जीवन स्तर के अन्तिम अवस्था की ओर उन्मुख हो जाता है जिसे 'धार्मिक अवस्था' कहा जाता है। यद्यपि किर्केगार्ड मानव जीवन के तीन स्तरों में धार्मिक अवस्था को मानव के उत्थान की सर्वोच्च एवं पूर्ण विकसित अवस्था माना है, किन्तु उसके द्वारा धार्मिक अवस्था को ही मानव की पूर्ण विकास की अवस्था मान लेना तथा वाह्य जीवन की उपेक्षा करना मूल्यात्मक दृष्टि से सामाजिक मूल्यों के ह्रास का द्योतक है।

9.7 सारांश

सोरेन किर्केगार्ड मानव अस्तित्व की नैतिक अवस्था में यह दिखाने का प्रयास करना है कि सौन्दर्यात्मक स्तर का जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति को सुखोपभोग से 'ऊब' होने लगती है और इस ऊब के कारण वह 'छलांग' द्वारा 'नैतिक जीवन' व्यतीत करने का निर्णय लेता है। सोरेन किर्केगार्ड का मानना है कि नैतिक जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति कर्त्तव्य परायण होता है। वह नैतिक जीवन को व्यतीत करते समय 'स्व' को 'अन्य' से सम्बद्ध करने का प्रयत्न करता है। नैतिक जीवन व्यतीत करने का निर्णय लेने वाला व्यक्ति नितान्त 'एकाकी' होता है। जब व्यक्ति अपने एकाकीपन का अतिक्रमण कर 'स्व' को अन्य से जोड़ने का प्रयत्न करता है तो कभी–कभी नैतिक परिस्थितयाँ उसे ऐसा करने से रोकती हैं, जिसके फलस्वरूप मानव अस्तित्व में एक प्रकार तनाव उत्पन्न होता है, जो निराशा को जन्म देता है। नैतिक निराशा के कारण मनुष्य 'छलांग' के द्वारा धार्मिक स्तर के जीवन शैली के अनुरूप जीवन व्यतीत करने की ओर उन्मुख होता है।

9.8 बोध प्रश्न

1. सोरेन किर्केगार्ड द्वारा विवेचित मानव अस्तित्व की नैतिक अवस्था का विवेचन कीजिए।
2. सोरेन किर्केगार्ड ने मानव अस्तित्व की नैतिक अवस्था को शुभ एवं सुन्दर के रूप अभिव्यंजित किया है। – विवेचना कीजिए।

9.9 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन पाश्चात्य दर्शन–प्रो0 बी0के0 लाल
2. अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक – लक्ष्मी सक्सेना व सभाजीत मिश्र
3. Existentiatism as a Philosophy- Molina

ईकाई– 10 सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार मानव अस्तित्व की धार्मिक अवस्था

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 किर्केगार्ड की धार्मिकता ईसाई धर्म की प्रचलित धार्मिकता से भिन्न धार्मिकता है।

10.3 अस्तित्वपरक जीवन में सम्पूर्णता का सृजन सम्भव नहीं है

10.4 ईसाई धर्म की स्वीकृति के सन्दर्भ में किर्केगार्ड के विचार

10.5 किर्केगार्ड के अनुसार सच्ची धार्मिकता के लिए वस्तुपरक दृष्टि अपर्याप्त है।

10.6 बुद्धिवाद का खण्डन

10.7 सोरेन किर्केगार्ड व्यक्ति की चेतना को ईश्वर से जुड़ा हुआ मानते हैं।

10.8 सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार 'नाइट आफ इनफाइनाइट रिजिग्नेशन' व्यक्ति

10.9 सोरन किर्केगार्ड के अनुसार 'नाइट आफ फेथ' व्यक्ति

10.10 सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार असंभव को संभव बनाने वाली धार्मिक अवस्था

10.11 धार्मिक व्यक्ति नैतिक व्यक्ति से मूलतः भिन्न है।

10.12 निष्कर्ष

10.13 सारांश

10.14 बोध-प्रश्न

10.15 उपयोगी पुस्तकें

10.0 उद्देश्य :

- सोरेन किर्केगार्ड के इस मन्तव्य को स्पष्ट किया गया है कि मानव की आन्तरिकता में नैतिक निराशा की उत्पत्ति उसे धार्मिक अवस्था की ओर उन्मुख करती है।

- धार्मिक अवस्था मानव के आत्मोत्थान की सर्वोच्च अवस्था है। किर्केगार्ड के द्वारा व्यक्त इस विचार पर दृष्टि डालते हुए उसे अस्तित्ववाद के सन्दर्भ में अभिव्यक्त करना है।
- धार्मिक अवस्था मनुष्य के जीवन में स्थिरता एवं आश्वासन के रूप में एक अवस्था उत्पन्न करती है। इस अवस्था को किर्केगार्ड के विचारों के अनुरूप अभिव्यक्त करना है।

10.1 प्रस्तावना :

सोरेन किर्केगार्ड का यह मानना है कि मानव जीवन का नैतिक स्तर भी मानव अस्तित्व की पूर्ण व्याख्या करने में असफल रहता है। इसलिए नैतिक जीवन की अपूर्णताओं से परिचित होकर मनुष्य एक छलांग भरता है और आस्था के सहारे धार्मिक जीवन के क्षेत्र में पहुँच जाता है। यहां भी नैतिकता की अवहेलना नहीं होती है, केवल उसका महत्व कम हो जाता है किर्केगार्ड का यह मत है कि नैतिक निराशा के कारण मनुष्य के प्रतिबद्धता की इच्छा में एक स्तरीय परिवर्तन का उपादान प्रकट होता है और मनुष्य की जीवनशैली नैतिकता से धार्मिकता की ओर उन्मुख होने लगती है। सोरेन किर्केगार्ड जिस प्रकार के धार्मिकता की स्थिति का उल्लेख करते हैं, वह धार्मिकता के सामान्य प्रचलित अर्थ से सर्वथा भिन्नप्रकार की धार्मिकता है।

आधुनिक जीवन में साधारणतया मानव जिसे धार्मिकता कहकर जीता है, वह नैतिकता से भिन्न नहीं है। आधुनिक जीवन में नैतिक आदेशों के समान कुछ धार्मिक आदेशों को सर्वोपरि मान लिया जाता है, तथा उन्हीं अनुरूप जीवन व्यतीत करने को धार्मिक स्तर मान लिया जाता है। सोरेन किर्केगार्ड जिस धार्मिक स्तर का उल्लेख कर रहे हैं वह आधुनिक जीवन की धार्मिकता से भिन्नप्रकार की धार्मिकता है। किर्केगार्ड की धार्मिकता में किसी धार्मिक संस्था के आदेश महत्पूर्ण नहीं है, अपितु यह व्यक्ति की आन्तरिकता में, आत्मनिष्ठता के गहन तल के जीवन में मुखर हुआ स्वर है। यह धार्मिकता की आन्तरिक अनुभूति है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति हर प्रकार के संस्थागत, नैतिक एवं धार्मिक आदेशों से ऊपर उठ जाता है।

किर्केगार्ड के अनुसार यह दृढ़ आस्था का स्तर है जहां आस्था में अन्तर्निहित प्रतिबद्धता के कारण सभी प्रकार के आदेश नगण्य हो जाते हैं। यह धार्मिकता व्यक्ति पर बाहर से थोपी हुई धार्मिकता न होकर उसकी आन्तरिककता में स्वतः उद्भूत हुई धार्मिकता है। किर्केगार्ड मानव जीवन के जिस धार्मिक स्तर का उल्लेख करते हैं, वह धार्मिकता का ऐसा स्तर है जिसके प्रति किसी के हृदयमें पूर्ण प्रतिबद्धता हो, जिसके लिए वह अपने पूर्ण जीवन को दाँव पर लगा देने के लिए पूर्ण प्रतिबद्ध हो, जिससे उसका जीवन निरन्तर आलोकित एवं रूपान्तरित हो, जो उसकी सम्पूर्ण जीवन शैली में निःशेष रूप से अभिव्यंजित हो सके।

10.2 किर्केगार्ड की धार्मिकता ईसाई धर्म की प्रचलित धार्मिकता से भिन्न धार्मिकता है :

किर्केगार्ड की धार्मिकता ईसाई धर्म की प्रचलित धार्मिकता से भिन्न प्रकार की धार्मिकता है। किर्केगार्ड कहते हैं कि यह कहने में कि 'हम ईसाई हैं' और 'ईसाई होने में' बहुत बड़ा अंतर है। कन्क्लूडिंग अन्साइंटफिक पोस्टस्क्रिप्ट में इस अन्तर को अनेक प्रकार से स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। किर्केगार्ड यह दिखलाना चाहते हैं कि जब हम ईसाई धर्म को ऐतिहासिक दृष्टिकोण या परिकल्पनात्मक दर्शन के दृष्टिकोण के अन्तर्गत रखकर समझने का प्रयास करते हैं तो हम उस धर्म के मूलस्वर के साथ अन्याय करते हैं।

वर्तमान युग की सबसे बड़ी भूल यह है कि उसे जीवन के महत्वपूर्ण आयामों को वस्तुपरक दृष्टि के अन्तर्गत रूपायित करने का प्रयास किया है। अतः जब भी हम ईसाई धर्म की प्रामाणिकता की ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर सिद्ध करना चाहते हैं तो हम केवल उसके आविर्भाव की एक रूपरेखा ही प्रस्तुत करने में सफल हो सकते हैं, किन्तु यह निश्चित है कि वह इतिहास अपनी प्रामाणिकता के बावजूद हमें केवल उसके उन्हीं रूपों से परिचित कराएगा जो स्थूल हैं क्योंकि उन्हें ही पकड़ने में और शब्द करने में वह सफल हो सकता है। किर्केगार्ड का कहना है कि यही बात परिकल्पनात्मक दर्शन के विषय में भी सही है, क्योंकि उसमें भी हमें जीवन की एक व्यवस्थित समग्रता या सम्पूर्णता मिलती है, जिसमें व्यक्ति एक द्रष्टा सा दिखायी पड़ता है और उसकी दृष्टि सर्वज्ञता का दावा करती हुई प्रतीत होती है।

10.3 अस्तित्वपरक जीवन में सम्पूर्णता का सृजन संभव नहीं है :

सोरेन किर्केगार्ड का मानना है कि अस्तित्वपरक दृष्टि के अन्तर्गत किसी भी प्रकार की परिपूर्णता की कल्पना बेमानी है। जीवन जब तक गतिशील है, जब तक वह संभावनाओं से जूझता नजर आता है, तब तक उसका चित्र निरन्तर बनता–बिगड़ता रहता है। ऐसी स्थिति में तब कौन यह कह सकता है कि बस इसके आगे और कुछ होना ही नहीं है। इसलिए अब हम अपने सम्पूर्ण जीवन को समेटकर उसको क्रमबद्ध तरीके से प्रस्तुत कर सकते हैं। अतः किर्केगार्ड कहते हैं कि अस्तित्वपरक दृष्टि के अन्तर्गत किसी सम्पूर्णता के सृजन का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि व्यक्ति जीवन के अन्तिम बिन्दु तक अपूर्ण रहता है और जब वह चुक जाता है तो उसके जीवन को उसकी सम्पूर्णता कोई व्यक्ति तो नहीं जान सकता केवल ईश्वर ही जान सकता है।

10.4 ईसाई धर्म की स्वीकृति के सन्दर्भ में किर्केगार्ड के विचार :

ईसाई धर्म को स्वीकार अस्वीकार करने के सन्दर्भ में किर्केगार्ड अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि धर्म की प्रामाणिकता का साक्ष्य स्वयं व्यक्ति को ही प्रस्तुत

करना पड़ेगा। उसे पूर्ण सच्चाई से, हृदयकी तलीय गहराइयों में उतरते हुए यह देखना होगा क्या धर्म की अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए वह सचमुच कृत संकल्प हो सकता है? अन्य शब्दों में उस धर्म की स्वीकृति –अस्वीकृति इस बात पर निर्भर नहीं करती है कि हम नियमित रूप से चर्च जाते हैं या नहीं, बल्कि इस बात पर निर्भर करती है कि हम 'क्राइस्ट' के व्यक्तित्व को कितनी प्रतिबद्धता के साथ,कितने समर्पित भाव से साथ जी रहे हैं अर्थात् हम 'अदृश्य चर्च' की अपेक्षाओं को किस प्रकार अपने जीवन में उतारने का प्रयास कर रहे हैं। यदि उत्तर स्वीकारात्मक है, तभी हमें इस बात का दावा करना चाहिए कि सही अर्थों में ईसाई हैं अन्यथा नहीं। इस प्रकार का अशेष समर्पण ही हमारी धार्मिकता की सही पहचान है और इसका साक्ष्य तो हमें स्वयं रूपान्तरित होकर प्रस्तुत करना पड़ेगा। हमारी जगह कोई और व्यक्ति किस प्रकार इस साक्ष्य को जुटा सकता है? हृदयके अशेष समर्पण एवं प्रतिबद्धता को किर्केगार्ड 'सत्य' की संज्ञा देते हैं और इसीलिए उनका यह कथन 'सत्य निष्ठता है' विशेष सन्दर्भ में ही सार्थक रहता है।

10.5 किर्केगार्ड के अनुसार सच्ची धार्मिकता के लिए वस्तुपरक दृष्टि अपर्याप्त है :

किर्केगार्ड के अनुसार सच्ची धर्मनिष्ठता के लिए वस्तुपरक दृष्टि अपर्याप्त है। किर्केगार्ड सच्ची धर्मनिष्ठता के लिए वस्तुपरक दृष्टि को अपर्याप्त मानते हैं और कहते हैं कि आस्था के सहारे जीवन तभी व्यतीत किया जा सकता है, जब कि हम अपनी सहज जिज्ञासा को पूर्णतः नियंत्रित कर लें इतना ही नहीं उसके प्रति एक निषेधात्मक दृष्टि अपनालें वही बिन्दु जिस पर स्थित होकर हम यह निर्णय लेते हैं कि हम अब जानने के कोशिश न करके अपने आप को आमूल रूप से रूपान्तरित करने की कोशिश करेंगे। यहीं से आस्था के अन्तर्गत जीवन व्यतीत करने का व्यक्ति संकल्प लेता है और निरन्तर इसी आस्था से पोषित उसका जीवन समृद्ध एवं उन्नत हो जाता है।

10.6 बुद्धिवाद का खण्डन :

सोरेन किर्केगार्ड का मानना है कि धार्मिक आस्था का और हृदय की पूर्ण प्रतिबद्धता का विषय ईश्वर है। ईश्वर को यदि हम बुद्धि द्वारा ग्रहण करने का प्रयास करते हैं तो हम उस पर विश्वास नहीं कर सकते और हमें उस पर विश्वास है तो निश्चित रूप से यह समझना कि हमने यह स्वीकार कर लिया है कि वह बुद्धि के माध्यम से ज्ञेय नहीं है। बुद्धि के रास्ते को छोड़ने का खतरा तो हमें लेना ही पड़ेगा, यदि हमें आस्था की पगडंडियों पर चलने की चाह अपने में उत्पन्न करनी है और उसे पोषित करना है।

सोरेन किर्केगार्ड ने अपने विचार को व्यक्त करते हुए यह दिखाया है कि 'जीसस क्राइस्ट' के व्यक्तित्व में सव्रप्रथम 'गाड मैन' का स्वरूप हमें देखने को मिलता है,

जिन्होंने इसलिए शरीर धारण किया था कि वे सम्पूर्ण मानव जाति को उसके मूल 'पाप' से मुक्त करा दें। सोरेन किर्केगार्ड का कहना है कि 'जीसस क्राइस्ट' का व्यक्तित्व स्वयं एक बहुत बड़ा विरोधाभास है जिसे बुद्धि के सहारे समझा ही नहीं जा सकता है, केवल 'आस्था' के सहारे जाना जा सकता है।

सोरेन किर्केगार्ड ईसाई धर्म के सत्य की विषयनिष्ठता का समर्थन करते हुए यह स्वीकार करता है कि 'जीसस क्राइस्ट' के व्यक्तित्व में सत्य जिस रूप में साकार हुआ, वह सर्वथा बुद्धि विरोधी है और यह कहकर बुद्धि की शरण में पुनः लौटने के रास्ते को सदैव के लिए ही बन्द कर देता है। किर्केगार्ड का कहना है कि जितना ही तीव्र गतिरोध होगा, उतनी ही वेग से व्यक्ति हृदय की पूर्ण प्रतिबद्धता के साथ सत्य की ओर बढ़ने के लिए कृत संकल्प होगा।

किर्केगार्ड का यह ही भी कहना है कि जिस वेग से और हृदय की जिस शक्ति से मनुष्य ईसाई धर्म में स्वीकृत 'सत्य', 'गाड मैन' की ओर प्रवाहमान हो सकता है, वह कहीं और असंभव है। 'गाड मैन' के रूप में जीसस क्राइस्ट को स्वीकार करके किर्केगार्ड ने दर्शन के क्षेत्र में एक नितान्त नवीन कोटि का सृजन किया है और वह है 'एब्सर्ड' की अस्तित्वपरक कोटि । 'एब्सर्ड' से किर्केगार्ड का आशय एक ऐसे अस्तित्व से है जो मानवीय नहीं है वह तो ईश्वर का पूर्ण अवतार है। किर्केगार्ड के लिए यह एक ऐसी अप्रतिम घटना है जिसका विश्व में कोई दूसरा उदाहरण नहीं है कि 'जीसस क्राइस्ट' के रूप में मानव जाति के उद्धार के लिए स्वयं ईश्वर ने अवतार लिया, न उसके पहले कोई आया था और न ही उसके बाद ही अब किसी और को आना है। यही कारण है कि उनका व्यक्तित्व हमें जिस प्रकार आश्वस्त करता है, दूसरा कोई नहीं कर सकता। शाश्वत शक्ति ने नररूप में जन्म लिया है, यह बात बुद्धि के समझ में कैसे आ सकती है, इसीलिए आस्था का सहारा लेना पड़ता है।

10.7 सोरेन किर्केगार्ड व्यक्ति की चेतना को ईश्वर से जुड़ा हुआ मानते हैं :

सोरेन किर्केगार्ड व्यक्ति की चेतना को ईश्वर से जुड़ा हुआ मानते हैं और इसी कारण वे यह भी मानते हैं कि व्यक्ति एवं ईश्वर के इस सम्बन्ध को प्रत्ययों के माध्यम से व्यंजित नहीं किया जा सकता है। सोरेन किर्केगार्ड अपने इस चिन्तन को 'टू एडिफाइंग डिसकोर्सेज (To Edifying Discourses) तथा फियर एण्ड ट्रम्बालिंग (Fear and Trembling) नामक दो कृतियों में मुखर करते हुए कहते हैं कि अस्तित्वपरक चिन्तन व्यक्ति एवं ईश्वर के इस अन्तरंग सम्बन्ध को प्रकाशित कर सकता है। वास्तविकता यह है कि जिस समय किर्केगार्ड अपने इस ग्रन्थ की रचना कर रहे थे, उनके मन में यह आशा विद्यमान थी, अब्राहम को जिस प्रकार उनका प्रिय पुत्र 'ईसाक' मिल गया था, उन्हें भी अपनी 'रेजिना' वापस मिल जाएगी। पर बर्लिन से वापस लौटने पर जब उन्हें 'रेजिना' के सगाई की

सूचना मिली, तो उसे उन्होंने अपने जीवन के सबसे बड़े आघात के रूप में, यही नहीं 'तूफान' के रूप में स्वीकार किया, पर साथ ही माना कि उसके पश्चात उनका हृदय हमेशा–हमेशा के लिए शांत हो गया और वे एक ही छलांग में लौकिक एषणाओं का अतिक्रमण करते हुए पूर्णतः ईश्वर के हो गये थे। इस सम्पूर्ण घटना के माध्यम से उन्होंने धार्मिक जीवन के दो अपूर्व चित्र प्रस्तुत किए हैं : (1) एक तो उस आस्थावान व्यक्ति का चित्र जिसने अपने एकाकी इच्छा का, जिसमें उसका सम्पूर्ण संसार बसा है, परित्याग कर दिया है और हृदय की पूर्ण निष्ठा के साथ ईश्वर का हो चुका है। इस भाव को वे 'असीम उत्सर्ग' की संज्ञा देते हैं और उस व्यक्ति को जिसने इस प्रकार का त्याग किया ह, 'नाइट आफ इनफाइनाइट रेजिग्नेशन' का नाम देते हैं।

(2) दूसरा उस अन्यतम व्यक्ति का चित्र प्रस्तुत करते हैं जिसने सभी कुछ का त्यागकर न केवल ईश्वर का सम्पूर्ण रूप में वरण कर लिया है, बल्कि उसकी असीम कृपा एवं अपने हृदयगत विश्वास के कारण उस सभी को, जिसका उसने त्याग किया है, पुनः प्राप्त कर लिया है।

सोरेन किर्केगार्ड धार्मिक जीवन के जिन दो रूपों का वर्णन करते हैं, उसे अब्राहम के उदाहरण ने ईश्वरीय आदेश का बिना किसी दुःख के बिना किसी अविश्वास के पालन किया, पर जिन्हें सब कुछ उनका प्रियपुत्र वापस मिल गया। अब्राहम को वे सही अर्थों में आस्थावान व्यक्ति मानते हैं और उन्हें 'नाइट आफ फेथ' की सेज्ञा देते हुए स्वीकार करते हैं कि उनका त्याग उनकी समझ के पूर्णतया बाहर है और जब–जब उन्होंने उसे समझने की चेष्टा की है भय से उनका सिर चक्कर खाने लगा है। इसी के साथ वे यह भी स्वीकार करते हैं कि अपनी शक्ति के आधार पर इस आदर्श को जीने में वे सर्वथा असमर्थ हैं। इस प्रकार का जीना कि व्यक्ति में अपने सर्वस्व के उत्सर्ग का साहस हो और साथ ही यह विश्वास भी बना रहे कि इस त्याग के बावजूद उसका उस चीज पर अधिकार पूर्ववत बना रहेगा–ऐसा अद्‌भुत एवं विलक्षण जीना उसके बस की बात नहीं है, उसका साहस वे अपने आप में बटोर नहीं पाते फिर भी इस अप्रतिम 'आस्था' के आगे वे नतमस्तक हैं क्योंकि ऐसे जीवन ही में जीवन की सभी विसंगतियाँ संगति में रूपान्तरित हो जाती हैं और ऐसा व्यक्ति हमेशा ही जीवन में सहज होकर जीता है। इस कारण वह सुखी भी होता है।

10.8 सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार 'नाइट आफ इनफाइनाइट रिजिग्नेशन' व्यक्ति :

सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार 'नाइट आफ इनफाइनाइट रिजिग्नेशन' एक ऐसा व्यक्ति है, जो यद्यपि ईश्वर के शरणागत हो चुका है फिर भी जीवन से सहज रूप से पुनः संयुक्त नहीं हो पाता उसका जीवन अन्य व्यक्तियों से बिलकुल अलग–अलग दीखता है। उसने अपने हृदय के अन्यतम साध्य का पूर्णतः परित्याग कर दिया है। उसे

यह भी आशा नहीं है कि किसी अनहोनी घटना के माध्यम से वह उसे पुनः प्राप्त कर लेगा, पर वह उसे पूर्णतः विस्मृत नहीं कर पाता। उसे भुलाना, चाहे उसकी स्मृति कितनी ही दुःखद क्यों न हो उसके लिए असंभव है। अलगाव का यह दुःख उसके अन्तस में छुपा हुआ है, पर उसके पार्थिव साहचर्य की अब उसे कोई कामना नहीं है। अपने त्याग की उदात्तता एवं गरिमा को कायम रखते हुए और ईश्वर की अनुभूति को अपने भीतर निरन्तर जीवंत रखते हुए अपने में ही व भीतर ही भीतर पूर्ण सन्तुष्टि का अनुभव करता है। उसने यह स्वीकार कर लिया है कि जो शाश्वत के लिए संभव है, वह परिमित मानव के लिए संभव नहीं हो सकता। इस भाव के साथ वह जीवन जीने की चेष्टा करता है और पूर्णतः संतुष्ट भी रहता है। इसके आगे की संभावना को वह अपने लिए असंभव मानता है, क्योंकि अपने प्रयासों से वह उसे यथार्थ नहीं कर सकता।

10.9 सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार 'नाइट आफ फेथ' व्यक्ति :

सोरेन किर्केगार्ड ने 'नाइट आफ फेथ' व्यक्ति का जीवन भिन्न रूप में रूपान्तरित किया है। वह मानवीय संभावनाओं से आगे बढ़ता हुआ असंभव को भी संभव बनाने की शक्ति रखता है, जो कुछ भी उसमें स्वेच्छा से ईश्वर के आगे अर्पित किया है वह सभी उसे पुनः उसी रूप में वापस मिल जाता है। धार्मिक निष्ठा की इस ऊंचाई की कल्पना तो किर्केगार्ड करते हैं और उसका भाव भी अंकन करते हैं, पर उन ऊंचाईयों को हासिल करना या समझ पाना उनके बस की बात नहीं है। खोना और पाना, पाना और खोना कुछ भी ऐसे व्यक्ति को विचलित नहीं करता। जिस सहजता से वह त्याग के लिए तत्पर होता है, उसी सहजता के साथ उस वस्तु को पुनः प्राप्त कर लेता है। लगता ही नहीं है कि उसके जीवन में किसी भी प्रकार का कोई व्यवधान आना भी था।

इस प्रकार सोरेन किर्केगार्ड धार्मिक आस्था को 'नाइट आफ इनफाइनाइट रिजिनेशन' और 'नाइट आफ फेथ' में भिन्न –भिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर व्यक्त करते हैं। नाइट आफ इनफाइनाइट रिजिगनेशन के व्यक्ति का जीवन सामान्य से अलग–थलग प्रतीत होता है, जबकि 'नाइट आफ फेथ' किसी भी प्रकार से सामान्य जनों से पृथक प्रतीत होता ही नहीं है। वह जीवन में उसी प्रकार रुचि लेता है जिस प्रकार से हम और आप लेते हैं हमें उसका व्यवहार भ्रमित करने वाला ही होता है। कहीं भी वह अपने व्यवहार के द्वारा अपने स्वरूप का प्रदर्शन नहीं करता। अपने को व्यक्त करने की कोई कामना भी उसके मन में नहीं होती।

सोरेन किर्केगार्ड ने 'फियर एण्ड ट्रम्बलिंग' (Fear and Trembling) 'अब्राहम' के माध्यम से आस्था के जिस आयाम का स्पर्श किया है वह अद्वितीय है। वह नैतिक से भी कहीं उदात्त है और इसलिए बंदनीय और प्रशंसनीय है। 'फियर एण्ड ट्रम्बलिंग' में 'अब्राहम' की धार्मिक आस्था को वे जिस रूप में व्यक्त करते हैं उसके आधार पर वे अब्राहम को 'ट्रैजिक हीरो' की संज्ञा देते हैं और उन्हें 'नाइट आफ फेथ' से पृथक करते

हैं। ट्रैजिक हीरो का सम्पूर्ण उत्सर्ग उसके जीवन की त्रासदी में मूर्तमान होता है, पर इसी के साथ उसे सम्पूर्ण मानवता का समर्थन प्राप्त होता है, जो उसे साहस एवं शक्ति प्रदान करता है। पर 'नाइट आफ फेथ' का जीवन पूर्णतः एकाकी होता है, उसके साथ कोई भी नहीं हो पाता क्योंकि उसके जीवन की संभावनाएं मात्र उसके लिए ही अर्थवत्ता रखती हैं शेष सभी तो उसे विस्मय –विस्थापित नेत्रों से उसके देखते भर हैं, पर उसे समझ सकने में सर्वथा अक्षम हैं।

10.10 सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार असंभव को संभव बनाने वाली धार्मिक आस्था अवस्था :

सारेने किर्केगार्ड ने असंभव को संभव बनाने वाली धार्मिक आस्था को समझने की चेष्टा करते हुए कहते हैं कि अब्राहम का निर्णय नितान्त वैयक्तिक है। उसे न तो सभी के समक्ष प्रस्तुत किया जा सकता है और न ही सभी समक्ष आदर्श के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। जो सभी के द्वारा स्वीकार्य हो सकता है, उसे शब्द बद्ध किया जा सकता है, विचार बद्ध किया जा सकता है, पर 'नाइट आफ फेथ की चेतना तो नैतिक दायित्वों को एक 'छलांग' में पार करती हुई निरपेक्ष भाव से अपने आप को परमसत्ता के प्रति समर्पित पाती है। उचित–अनुचित का कोई भी द्वन्द्व उसकी चेतना के शान्त नीरवता को भंग नहीं करता और इसी के साथ उसका जीवन भीतर से पूर्णतः आश्वस्त होता है। इसीलिए वह जो कुछ भी करता है उसकी किसी भी प्रकार की अनिश्चितता देखने में नहीं आती। किसी भी प्रकार के छोड़ने की कोशिश उसके पावन संकल्प को दूषित नहीं करती। वह दृढ़ता के साथ और नितांत सहजता के साथ बलिबेदी पर अपना सबकुछ अर्पित भी कर देता है। इस धार्मिक स्तर के भाव को व्यक्त करते हुए सोरेन किर्केगार्ड कहते हैं कि –

''इस भाव को किसी सामान्य के अन्तर्गत रखा ही नहीं जा सकता, क्योंकि इसका पूर्ण औचित्य उस संकल्प में ही निहित है, जो उस व्यक्ति का नितान्त निजी संकल्प होता है।''

10.11 धार्मिक व्यक्ति नैतिक व्यक्ति से मूलतः भिन्न है :

सोरेन किर्केगार्ड का यह मानना है कि धार्मिक व्यक्ति का जीवन स्तर नैतिक व्यक्ति से मूलतः भिन्न होता है, क्योंकि आस्थावान व्यक्ति का ईश्वर में विश्वास होता है और इसमें भी वह अर्थात ईश्वर स्वयं देशकाल की सीमाओं में बंधते हुए अर्थात मानव शरीर धारण करते हुए भी अपनी सम्पूर्णता को तिरोहित नहीं होने देता। इसी के साथ उसकी न्यायप्रियता के कारण भीतर से पूर्णतः आश्वस्त रहता है। इस जीवन में उसका पूर्ण विश्वास होता है, किन्तु उसक उम्मीदों का कोई तार्किक आधार नहीं होता। वह इस प्रकार की आशा इसलिए रख पाता है क्योंकि ईश्वर में उसके द्वारा दिए हुए आश्वासन में उसका अडिग, निःशेष विश्वास और उसकी यह आस्था बुद्धि के माध्यम से न ग्राह्य होते

हुए भी जीवन की पकड़ को बनाये रखने में उसका भरपूर साथ देती है, इसी के नाते सभी कुछ छोड़ते हुए भी उसी में जीने की, उसी में बंधे रहने की वह आशा करता है।

नैतिक जीवन शैली और धार्मिक जीवनशैली के अन्तर को स्पष्ट करते हुए सारेने किर्केगार्ड कहते हैं कि धार्मिक जीवन शैली को अपनाने वाला व्यक्ति अपने नितान्त एकाकीपन में और उसी स्थिति में वह श्लाघनीय है– हमारी आस्था का पात्र है, जबकि नैतिक जीवन शैली व्यतीत करने वाले व्यक्ति का जीवन सार्वभौम नियमों से नियंत्रित होता है। यहां नैतिक नियम व्यक्ति की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण होते हैं, उसकी अधीनता स्वीकार करने वाला व्यक्ति मानवों में श्रेष्ठ माना जाता है और उसका व्यवहार सभी के लिए आदर्श के रूप मे ंप्रस्तुत किया जाता है।

किर्केगार्ड कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति का जीवन चूंकि अत्यधिक मानवीय होता है, इसलिए उसकी भावनाओं का भी समुचित सम्प्रेषण होता है, लोग उसकी बात को समझते हैं और इस समझ और अपने अनुमोदन से अपना बल प्रदान करते हैं। यही कारण है कि जो न्यायाधीश तटस्थ होकर अपने पुत्र को दण्डित करता है, उसका जीवन एक त्रासदी तो है ही, पर इसी के साथ यह भी है कि वह अन्य व्यक्तियों द्वारा समर्थित होता है, वह उनके लिए तथा सभी के लिए आदर्श के रूप में स्वीकृत होता है, पर जो पिता ईश्वरीय आदेश के तहत अपने पुत्र को बलिदान के लिए ले जाता है– उसकी बात सरलता से सम्प्रेषणीय नहीं है और इसलिए सामान्य मनुष्यों के समझ की परिधि के बाहर है, यद्यपि ऐसा व्यक्ति ही विशिष्ट है और मानवों में श्रेष्ठ है। इसीलिए सोरेन किर्केगार्ड कहते हैं कि आस्थावान व्यक्ति, विशेष रूप से 'नाइट आफ फेथ' अपनी अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए नैतिक जीवन की अपेक्षाओं को भी विस्तृत कर देता है, वे भी उसके लिए बेईमानी हो जाती है।

10.12 निष्कर्ष :

सोरेन किर्केगार्ड मानव अस्तित्व की धार्मिक अवस्था के चिन्तन में यह दिखाते हैं कि धार्मिक अवस्था उसके आस्थापरक जीवन का एक विलक्षण, अपूर्ण अस्तित्वपरक, विरोधाभास है और इस जीवन को व्यतीत करने वाला व्यक्ति अपनी इच्छा एवं संकल्प से कुछ भी नहीं प्राप्त करता। वह जो भी होता है, जो भी जीता है, उसका स्रोत स्वयं ईश्वर है, जिसे किसी भी तरह से बौद्धिक कोटि में बांधना संभव नहीं है। यही कारण है कि ईश्वरीय आदेश के तहत अपने को पूर्णतः समर्पित करने वाला व्यक्ति कही भीतर से पूर्णतः स्थिर एवं आश्वस्त होता है और ईश्वर उसे अनुदान में वह सभी कुछ वापस लौटा देता है, जिसे उसने यानी उस व्यक्ति ने ईश्वर को अर्पित किया था।

किर्केगार्ड कहते हैं कि जब हम इस जीवन शैली के बारे में सोचते हैं तो मेरा हृदय घबराने लगता है, क्योंकि मैं तो समझता हूं जो अब्राहम द्वारा सम्पन्न हुआ, वह कार्य किसी मानव स्वयं उसकी शक्ति के आधार पर संभव हो ही नहीं सकता। वह तो

एक अतिशय प्रतिभावान व्यक्तित्व द्वारा ही सम्भव है, जो भीतर से ईश्वरीय शक्ति से इस प्रकार जुड़ा हुआ है कि उसके लिए सभी कुछ अर्थात् असंभव भी संभव है। अतएव यह कहा जा सकता है कि 'नाइट आफ फेथ' के लिए सम्पूर्ण नैतिक जीवन की अपेक्षाओं के स्थगन ही उचित प्रतीत होता है यही कारण है कि उसका पथ कठिन और कष्टप्रद होता है, पर हृदयगत आस्था के कारण सरलता से तय कर लिया जाता है। किर्केगार्ड द्वारा मनुष्य के अस्तित्व के धार्मिक अवस्था का यह चित्र अन्यतम् है और अपरोक्ष रूप से किर्केगार्ड हमें इसे ही आदर्श के रूप में स्वीकार करने का आह्वान करते हैं, यद्यपि वह स्वयं जानते हैं कि उसके प्रति न्याय करना कठिन है।

10.13 सारांश :

सोरेन किर्केगार्ड का यह मानना है कि मानव के नैतिक जीवन की अवस्था भी उसके अस्तित्व की पूर्ण व्याख्या करने में असफल रहती है। इसलिए नैतिक जीवन से उत्पन्न नैतिक नैराश्य के कारण मनुष्य एक 'छलांग' भरता है और आस्था के सहारे धार्मिक जीवन के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाता है। किर्केगार्ड का मानना है कि मानव जब धार्मिकता के जीवन स्तर में प्रविष्ट होता है तो उसके हृदय में ईश्वर के सानिध्य को प्राप्त करने की पूर्ण प्रतिबद्धता होती है, जिससे उसका जीवन निरन्तर आलोकित एवं रूपान्तरित होता है तथा ऐसी धार्मिकता व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन शैली में अनूदित होती है। मानव के धार्मिक जीवन के स्तर को स्पष्ट करते हुए किर्केगार्ड ने ईसाई धर्म में प्रचलित धार्मिकता से इसे भिन्न दिखाते हुए यह कहा है कि अस्तित्वपरक जीवन में सम्पूर्णता का सृजन संभव नहीं है। ऐसा इसलिए है क्योंकि सोरेन किर्केगार्ड व्यक्ति की चेतना को ईश्वर से जुड़ा हुआ मानते हैं।

किर्केगार्ड के मानना है कि धार्मिक अवस्था में व्यक्ति हृदय की पूर्ण निष्ठा के साथ ईश्वर का हो चुका होता है। व्यक्ति के इस भाव को किर्केगार्ड 'असीम उत्सर्ग' के भाव की संज्ञा देते हैं और अब्राहम के उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट करते हैं। सोरेन किर्केगार्ड ने अपनी विभिन्न रचनाओं के विवेचन में यह बात उद्धाटित किया है कि धार्मिक व्यक्ति के दो रूप हो सकते हैं– 'नाइट आफ इनफाइनाइट रिजिग्नेशन' और 'नाइट आफ फेथ'। 'नाइट आफ इनफाइनाइट रिजिग्नेशन' एवं 'नाइट आफ फेथ' के व्यक्ति में अन्तर होता है– एक धार्मिक जीवन व्यतीत करते हुए आगे कि किसी संभावना को अस्वीकार करता है तथा दूसरा व्यक्ति असंभावना को भी संभावना में परिणत कर देने की क्षमता रखता है। इस प्रकार सारेन किर्केगार्ड मानव अस्तित्व की धार्मिक अवस्था का विवेचन करते हुए अन्ततः यह प्रतिपादित करते हैं कि धार्मिक अवस्था में जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति में एक प्रकार की स्थिरता एवं आश्वासन पाया जाता है।

10.14 बोध प्रश्न

1. सोरेन किर्केगार्ड के द्वारा विवेचित धार्मिक अवस्था का निरूपण कीजिए।
2. सोरेन किर्केगार्ड के अनुसार धार्मिक स्तर का जीवन पूर्ण शांति एवं निःशेष नीरवता का जीवन है। –विवेचना कीजिए।

10.15 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन पाश्चात्य दर्शन – प्रो0बी0के0 लाल
2. अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक – लक्ष्मी सक्सेना
3. Existentialism as a Philosophy-Molina

MAPH-116 (N)

समकालीन पाश्चात्य दर्शन :
भाग–2

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

खण्ड

3

ज्यां पाल सार्त्र

इकाई-11	नास्तिक अस्तित्ववाद	117–130
इकाई-12	अस्तित्व एवं सार का सम्बन्ध	131–142
इकाई-13	स्वतंत्रता एवं उत्तर दायित्व	143–158
इकाई-14	दुरास्था	159–168
इकाई-15	अस्तित्ववाद एवं मानववाद	169–176

खण्ड परिचय

बीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य जगत में ज्याँ पाल सार्त्र अस्तित्ववादी विचारधारा की एक अर्थ में सशक्त अभिव्यक्ति थे, जिन्होंने दर्शन को एक नवीन विचारधारा के रूप में प्रतिष्ठित किया। ज्यां पाल सार्त्र ने अपने अस्तित्ववादी चिन्तन में प्रभुतासम्पन्न मूर्त मनुष्य को अपने चिन्तन का केन्द्र बिन्दु बनाया। ज्यां पाल सार्त्र के पूर्व दर्शन या तो तत्वमीमाँसीय समस्याओं के विश्लेषण को अपना अभीष्ट विषय बनाया था या ज्ञान मीमाँसीय समस्याओं के समाधान तक अपने को सीमित रखा था। यद्यपि पाश्चात्य दर्शन में बीसवीं सदी में चिन्तन की एक नयी विधा का विकास अवश्य हुआ जिसे भाषा विश्लेषण की संज्ञा से अभिहित किया गया है, किन्तु भाषा विश्लेषणवादी दार्शनिकों का दृष्टिकोण भी मूर्तमानव जीवन के विषय में तटस्थ था। अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने मूर्तमानव जीवन को प्रमुखता प्रदान करते हुए मानव अस्तित्व के निरूपण को अपने दार्शनिक चिन्तन का विषय बनाया। ज्याँ पाल सार्त्र जिस अस्तित्ववादी चिन्तन को पराकाष्ठा तक पहुंचाया उसके प्रणेता सोरेन किर्केगार्ड रहे। यद्यपि ज्यां पाल सार्त्र के पूर्व जितने भी अस्तित्ववादी विचारक हुए हैं, वे अपने को अस्तित्वादी घोषित करने में संकोच दिखाए है, किन्तु ज्याँ पाल सार्त्र ने अपने को अस्तित्ववादी घोषित करते हुए सर्वप्रथम 'अस्तित्व' की अधिकारिक परिभाषा देते हुए 'अस्तित्व' को सार का पूर्वगामी बताया है। ज्यां पाल सार्त्र के दर्शन पर उसके युग दार्शनिक चिन्तन क भी प्रभाव था। उस समय दर्शनजगत में हेगल के निरपेक्ष प्रत्ययवाद का प्रभुत्व था।

जिस प्रत्ययवाद का उदय प्लेटो के दर्शन में हुआ था उसे हेगल ने पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया था। किन्तु ज्यां पाल सार्त्र ने यह पाया कि हेगल के प्रत्ययवादी चिन्तन में मनुष्य को नगण्य बना दिया गया है और सम्पूर्ण सृष्टि को ही निरपेक्ष परम तत्व की अभिव्यक्ति मान लिया गया। परन्तु मनुष्य कोई अमूर्त प्रत्यय नहीं बल्कि मूर्त जीवित प्राणी है। मनुष्य का अस्तित्व उसके होने में है और उसे शब्दों में या विचारों में बाँधा नहीं जा सकता है।

खण्ड 03 ज्याँ पाल सार्त्र से संबंधित है, जिसमें कुल पाँच इकाईयां हैं। पांचों इकाइयों का सामान्य परिचय प्रारम्भ में दे दिया जा रहा है।

खण्ड 03 की **इकाई–11** ज्यां पाल सार्त्र के अस्तित्ववाद से सम्बन्धित उस विचारधारा को अभिव्यक्त करती है जिसमें वह नास्तिक अस्तित्ववादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। अस्तित्ववादी चिन्तन का आरम्भ सोरेन किर्केगार्ड के दर्शन से ही हो गया था और सोरेन किर्केगार्ड को अस्तित्ववादी दर्शन का प्रणेता माना जाता है, किन्तु सोरेन किर्केगार्ड ईसाई धर्म के प्रति निष्ठा रखता है, इसलिए उसके अस्तित्ववादी चिन्तन में ईश्वर के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण नहीं मिलता है। अस्तित्ववादी दर्शन में जिन दार्शनिकों ने प्रमुख रूप से योगदान दिया है उन दार्शनिकों को तीन वर्गों में रखा जा

सकता है, एक वर्ग ऐसे दार्शनिकों का है जिन्होंने ईश्वर के प्रति आस्था रखते हुए अपने अस्तित्ववादी विचारों को व्यक्त किया है। इसवर्ग के दार्शनिकों में सोरेन किर्केगार्ड, गोबरील मार्सल और यास्पर्स प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। दूसरा वर्ग ऐसे दार्शनिकों का है जिन्होंने मानव अस्तित्व को ही प्रमुखता प्रदान करते हुए ईश्वर की सत्ता का भी निषेध किया है। इस प्रकार के दार्शनिकों में मार्टिन हाइडेगर, नीत्शे एवं ज्यां पाल सार्त्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अस्तित्ववादियों का एक ऐसा भी वर्ग है जो कि ईश्वर के प्रति तटस्थ रहा है, जिसमें अल्बेयर कामू, काफ्का इत्यादि ईश्वर के विषय में तटस्थ दृष्टिकोण रखे हैं।

इकाई :12 में ज्यां पाल सार्त्र के द्वारा 'अस्तित्ववाद' की गयी परिभाषा 'अस्तित्व सार का पूर्वगामी है' को विवेच्य विषय बनाया गया है। इस इकाई में 'मानव अस्तित्व' और सार के सम्बन्ध' को स्पष्ट करते हुए यह दिखाया गया है कि जगत में स्थित वस्तुओं की भाँति मनुष्य कोई अचेतन सत्ता नहीं है। मनुष्य में अनन्त संभावनाएं हैं और अपनी संभावनााओं का निरन्तर स्वरूप प्रदान करने में अभिरत रहा है। वह अपने सार का सृजन करता रहता है। मनुष्य पूर्णतः स्वतंत्र है और अपने स्वतंत्र चुनावों के द्वारा अपने सार का सृजन करता रहता है।

इकाई–13 में ज्यां पाल सार्त्र के 'स्वतंत्रता एवं उत्तरदायित्व की अवधारणा' में मानव स्वतंत्रता को अस्तित्ववादी चिन्तन में 'मानव अस्तित्व का पर्याय के रूप में निरूपित किया गया है। 'मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है, सार्त्र की इस परिभाषा के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य हमेशा चुनावों के द्वारा अपने स्वतंत्रता को क्रियान्वित करता है। ऐसा नहीं हो सकता है कि मनुष्य कोई चुनाव करे ही नहीं। मनुष्य अपने चुनाव को जब टालता है तो भी उसका यह चुनाव का टालना भी एक प्रकार चुनाव ही है। इतना ही नहीं मनुष्य जो चुनाव करता है वह समाज के विधायक सदस्य के रूप में करता है और समाज के मूल्यों एवं नियमों का स्रष्टा वह स्वयं है, इसीलिए उसकी चुनाव सम्पूर्ण समाज के लिए होता है। वह अपने चुनाव के द्वारा समाज का भी मार्गदर्शक होता है। मनुष्य स्वतंत्र होने के कारण अपने प्रति उत्तरदायी भी है और सम्पूर्ण मानवजाति के प्रति भी उत्तरदायी है। मनुष्य के स्वतंत्र चुनावों पर सम्पूर्ण मानवता की निगाहें टिकी हैं। इसलिए मनुष्य का दायित्व सम्पूर्ण समाज के प्रति है।

इकाई–14 में सार्त्र के 'दुरावस्था के सम्प्रत्यय' का निरूपण किया गया है। दुरावस्था में मनुष्य स्वयं से झूठ बोलता है। सार्त्र के अनुसार जब मनुष्य अपने दायित्वों से बचने के लिए कोई बहाना ढूँढ़ता है, तो वह स्वयं से झूठ बोलता है तथा मानव की यह अवस्था उसके 'दुरावस्था' की अवस्था होती है। यह दुरावस्था दो रूपों में प्रकट होती है– (1) उत्तरदायित्व से बचने का बहाना ढूँढ़ना एवं (2) अपने चेतन स्वरूप को अचेतन वस्तु में अपचयित कर लेना।

इकाई–15 में 'अस्तित्ववाद एवं मानववाद' के अन्तर्गत इस बात पर विचार किया गया है कि अस्तित्ववाद अन्ततः मानववाद में परिणत हो जाता है। इसके अन्तर्गत सार्त्र का यह दिखाता है कि मानवीय जगत के अतिरिक्त अन्य कोई जगत नहीं है। यह मनुष्य के व्यष्टिता का जगत है। अस्तित्ववाद मनुष्य एवं जगत के सम्बन्ध का अध्ययन करने के लिए प्रक्रिया में मनुष्य के अकेलेपन अथवा अलगाव की पहचान करता है उसको पकड़ने का प्रयास करता है। यह ऐसे मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करना चाहता है, जिसमें मनुष्य अपने स्वतंत्रता का उपयोग करते हुए अपने जीवन मूल्यों का सृजन करता है।

इकाई –11 नास्तिक अस्तित्ववाद

इकाई की रूपरेखा :

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 अस्तित्ववाद किसी वाद या सम्प्रदाय को स्थापित करने का प्रयत्न नहीं है

11.3 अस्तित्ववाद पारम्परिक दर्शनों के प्रतिवाद के रूप में

- 11.3.1 अस्तित्ववाद में प्राकृतिक दृष्टिकोण का प्रतिवाद
- 11.3.2 प्रत्ययवाद में प्रतिवाद
- 11.3.3 अस्तित्ववाद में तार्किक एवं बौद्धिक दृष्टि का प्रतिवाद
- 11.3.4 अस्तित्ववाद के द्वारा सभी प्रकार के अमूर्त विज्ञान का प्रतिवाद
- 11.3.5 अस्तित्ववाद के द्वारा केवल विचारशील प्राणी के रूप में मनुष्य को मानने का प्रतिवाद
- 11.3.6 अस्तित्ववाद सम्पूर्णता की दृष्टि के विरुद्ध प्रतिवाद है
- 11.3.7 अस्तित्ववाद मनुष्य के आन्तरिकता की उपेक्षा के विरुद्ध प्रतिवाद है

11.4 अस्तित्ववाद का भावात्मक पक्ष

- 11.4.1 अस्तित्ववाद में एक्जिस्ट शब्द का अर्थ
- 11.4.2 अस्तित्ववाद में 'अस्तित्व' का अर्थ है –अस्तित्व के साथ जीना
- 11.4.3 अस्तित्व की प्रथम अनुभूति मानव को एकाकीपन की अनुभूति है।
- 11.4.4 स्वतंत्रता एवं दायित्व
- 11.4.5 मनुष्य का प्रामाणिक एवं अप्रमाणिक अस्तित्व

11.5 ज्यां पाल सार्त्र का नास्तिकवाद या निरीश्वरवादी अस्तित्व

11.6 ज्यां पाल सार्त्र के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन

- 11.6.1 ईश्वर का प्रत्यय आत्मव्याघाती है
- 11.6.2 धार्मिक जीवन दुरावस्था पर आधारित है

11.7 शून्यता की अनुभूति

11.8 निष्कर्ष

11.9 साराँश

11.10 बोध-प्रश्न

11.11 उपयोगी पुस्तकें

11.0 उद्देश्य

- ज्याँ पाल सार्त्र निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद वर्ग के प्रतिनिधि दार्शनिक रहे हैं। ज्यां पाल सार्त्र ने मानव के निरपेक्ष स्वतंत्रता का समर्थन करते हुए ईश्वररहित इस जगत में मनुष्य को स्वयं के प्रति तथा सम्पूर्ण मानवता के प्रति उत्तरदायी मानते हैं। प्रस्तुत विषय के अन्तर्गत ज्यां पाल सार्त्र के अस्तित्ववादी चिन्तन के विकास की सामान्य रूपरेखा का व्यवस्थित अंकन किया गया है।
- ज्यां पाल सार्त्र अन्य अन्य नास्तिक अस्तित्ववादियों की ही भाँति ईश्वर की सत्ता का निषेध करते हैं और मानव अस्तित्व को ही प्रमुख सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। सर्वप्रथम सार्त्र ऐसे दर्शनों का खण्डन करते हैं, जो मानव अस्तित्व एवं स्वतंत्रता का विरोधी है।
- अस्तित्ववाद की सामान्य विशिष्टताओं का विवेचन करते हुए अस्तित्ववाद को युग दर्शन के रूप में ज्याँ पाल सार्त्र द्वारा प्रतिष्ठित कये जाने का निरूपण किया गया है।

11.1 प्रस्तावना :

ज्यां पाल सार्त्र का अस्तित्ववाद मानवकेन्द्रित दर्शन है। अस्तित्ववाद का उद्भव द्वितीय विश्वयुद्ध, औद्योगीकरण मशीनीकरण एवं साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में हुआ क्योंकि मानव इन सभी परिस्थितियों में उपेक्षित बन कर रह गया था। इसलिए अस्तित्ववाद का प्रमुख लक्ष्य उपेक्षित मानव के अस्तित्व की प्रतिष्ठा करना था। अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने अपना कोई उस तरह का समूह संगठित नहीं किया, जिस प्रकार जिस प्रकार समूह तार्किक प्रत्यक्ष वादियों 'वियना सर्किल' के रूप में संगठित किया था। इसलिए प्रत्येक अस्तित्वादी अपने–अपने ढंग से अस्तित्ववादी हैं, किन्तु 'वाद' से उनकी इतनी अरुचि है कि उनमें से प्रायः सभी अस्तित्व वादी होने से इनकार करते हैं। इन सबके बावजूद अस्तित्ववादियों को ईश्वरवादी एवं निरीश्वरवादी वर्गों में विभाजित किया गया है। एक वर्ग में ऐसे अस्तित्ववादी दार्शनिक हैं जो सारेन किर्केगार्ड द्वारा दी गयी हेगल के प्रत्ययवाद की आलोचना तथा मानव अस्तित्व की प्राथमिकता से अपने

अस्तित्ववादी चिन्तन का प्रारंभ करते हैं। इस वर्ग के दार्शनिक ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार नहीं करते और मानव के प्रामाणिक अस्तित्व की प्रतिष्ठा के लिए ईश्वर की सत्ता को भी स्वीकार करते हैं। इस प्रकार के दार्शनिकों में किर्केगार्ड के अतिरिक्त यास्पर्स, गेबरील मार्सल एवं ब्यूवर प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। अस्तित्ववादी दार्शनिकों को एक दूसरा वर्ग भी है, जिनके चिन्तन की जड़ें किसी न किसी रूप में हुसर्ल की फिनामिनालाजी में है और ये सभी लोग भी हेगेल के प्रत्ययवाद तथा सारवाद का प्रतिवाद करते हैं। यद्यपि इन दार्शनिकों का हुसर्ल के दार्शनिक दृष्टिकोण से गम्भीर मतभेद है, किन्तु वे हुसर्ल से इस बिन्दु पर सहमत हैं कि दर्शन से उन सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों से मुक्त होना चाहिए, जो प्राकृतिक दृष्टिकोण में पाये जाते हैं। इस वर्ग के सभी अस्तित्वादी ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करते हैं और निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन दार्शनिकों को मूलमंत्र था कि जब दार्शनिक चेतना प्राकृतिक दृष्टिकोण जन्य पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर विचार करती है तभी उसके समक्ष 'अस्तित्व' का क्षेत्र उद्घाटित होता है, जो कि वैज्ञानिक भाषाई तथा, संप्रत्ययात्मक जगत का पूर्ववर्ती एवं मूल सत्य होता है। हुसर्ल के फिनामिनालाजी का अभियान उसकी अनुभवातीत विषयिता या चेतना की खोज में पूरा हो जाता है, क्योंकि वह यह देखता है कि समस्त वस्तुजगत इसी चेतना की संरचित वास्तविकता है। यह हुसर्ल के फिनामिनालाजी का एक तरह से प्रत्ययवादी अन्त था और यही वह बात है, जो हाइडेगर, सार्त्र तथा पान्ती को हुसर्ल से अलग कर देती है। इनमें से प्रत्येक हुसर्ल की इस बात के लिए आलोचना करता है कि वह अपनी फिनामिनालॉजिकीय खोजों को सही दिशा में नहीं ले जा सका। वास्तविकता यह है कि हुसर्ल के फिनामिनालॉजी में जिस विषयापेक्षी चेतना का वर्णन किया गया है वह मानव अस्तित्व से सम्बन्धित वह प्राक विमर्शी चेतना है, जो जगत में सक्रिय है ओर निरन्तर अपने अस्तित्व के सृजन की संभावना की खोज में है। इस वर्ग के सभी अस्तित्ववादी यह मानते हैं कि मानव ही सत्ता है, क्योंकि वह शून्यता है और शून्य होने के नाते ही उसमें 'कुछ होने' और 'कुछ करने' की संभावना है। वस्तुएं ठोस होने के कारण अर्थों एवं संभावनाओं से रहित है। अर्थहीन जगत को मनुष्य ही अर्थ प्रदान करता है।

11.2 अस्तित्ववाद किसी वाद या सम्प्रदाय को स्थापित करने का प्रयत्न नहीं है

अस्तित्वाद किसी वैचारिक सम्प्रदाय की स्थापना से सम्बन्धित विचारधारा नहीं है। यह सिकी ऐसे नवीन सम्प्रदाय की स्थापना का प्रयास नहीं है, जो किसी 'वाद' से सम्बन्धित हो, अपितु यह मानव जीवन से सम्बन्धित एक 'दृष्टि' है, यह एक ऐसी दृष्टि है जिसमें मनुष्य को अपने आत्मीयता का बोध होता है इसलिए अस्तित्वाद को किसी दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में समझने का सम्पूर्ण प्रयास निरर्थक है। अस्तित्वादी दृष्टि को अस्तित्वादी दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण से ही समझा जा सकता है। अपनी अस्तित्वादी

दृष्टि की विलक्षणता के कारण दर्शन के क्षेत्र में इस विचारधारा व्यापक प्रभाव साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से हुआ। प्रायः सभी अस्तित्ववादी विचारकों ने अपने साहित्यिक रचनाओं में पात्रों के माध्यम से मानव के अन्तर्मन का प्रतिरूपण करके अस्तित्ववादी चिन्तन के प्रति लोगों का आकर्षण पैदा किया। अस्तित्वादी चिन्तन के प्रति लोगों के बढ़ते रुझान का परिणाम यह हुआ कि बीसवीं सदी के चौथे दशक में अस्तित्वाद एक नवीन विचारधारा के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। प्रायः सभी अस्तित्वादी इस बात से सहमत हैं कि पारम्परिक दर्शन का चिन्तन प्रक्रिया अवधारणात्मक रही है, जिसके फलस्वरूप उनके चिन्तन में अमूर्तभाव चिन्तन को ही प्राथमिकता मिली। किन्तु अस्तित्वादी दार्शनिकों का यह मानना है कि अमूर्तभावों में विश्लेषण के द्वारा मानवीय सत्यों तक पहुंचा ही नहीं जा सकता है। अस्तित्वादी दृष्टि मानव केन्द्रित दृष्टि है, क्योंकि यह जगत में साझीदार मानवमूर्त मानव को अपने चिन्तन का विषय बनाता है। इसीलिए अस्तित्वाद के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि अस्तित्वादी चिन्तन दर्शन के दृष्टि का चिन्तन नहीं है, बल्कि अभिनेता के दृष्टि का चिन्तन है।

अस्तित्वादी दार्शनिक सोरेन किर्केगार्ड हेगल के प्रत्ययवादी चिन्तन का उपहास करते हुए कहते हैं कि हेगल हमारे समक्ष जगत तथा मनुष्य के सम्बन्ध में एक विशाल नाटकीय दृश्य प्रस्तुत करते हैं, किन्तु वे भ्रमवश यह देख नहीं नहीं पाते हैं कि मानवीय नाटक के पात्र हम सभी हैं, हम नाटक देखेंगे क्या, हम नाटक खेल रहे हैं। वास्तविकता यह है कि अस्तित्वाद का उद्‌भव एक विशेष प्रकार की मानव स्थिति की अनुभूति पर निर्भर है और वह मानवीय स्थिति आधुनिक युग के ऐसे मानव की है, जिन परिस्थितियों से वह घिरा हुआ है। विज्ञान एवं टेक्नोलाजी से विकसित मानसिकता, दो विश्वयुद्ध की विभीषकाओं की स्पष्ट अनुभूति में ही अस्तित्वादी चिन्तन दृष्टि का विकास हुआ है। आज का मानव जिन परिस्थितियों में घिरा है, उसमें उसकी आन्तरिकता का, उसकी मानवीयता का ही हनन होताा जा रहा है और मानव का अमानवीयकरण हो रहा है, मनुष्य की मानवीयत ही समाप्त हो रही है। इसलिए अस्तित्ववादी विचारक अपने चिन्तन का केन्द्र बिन्दु मनुष्य को बनाते हुए यह प्रयास किया है कि कहीं मनुष्य इस प्रकार के परिस्थितियों में घिरा होकर खो न जाय, उसकी मानवीयता, उसकी विशिष्टता, उसकी गरिमा का अन्त न हो जाय। इसलिए अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने मनुष्य को उसकी मानवीयता, उसकी विशिष्टता एवं उसकी गरिमा की अनुभूति कराने का प्रयास किया है और अपने चिन्तन को मानव अस्तित्व के स्पष्टीकरण के रूप में व्यक्त करने का प्रयास किया है।

11.3 अस्तित्ववाद पारम्परिक दर्शनों के प्रतिवाद के रूप में

अस्तित्ववादी दर्शन पर हुसर्ल के फिनामिनालाजी के प्रभाव के फलस्वरूप अस्तित्वपरक फिनामिनालाजी दार्शनिक गवेषणा की प्रमुख विषय बनी। अस्तित्वपरक

फिनामिनालाजी का मुख्य प्रश्न है : 'मनुष्य होने का अर्थ क्या है? हुसर्ल के विपरीत अस्तित्ववादी दार्शनिक ज्ञान के प्रश्न को प्राथमिक महत्व न देकर 'जीवंत अनुभव' के प्रश्न का प्राथमिक अनुभव प्रदान करते हैं। 'मनुष्य होने का अर्थ' में जो केन्द्रीय समस्या उभरकर सामने आती है, वह मनुष्य एवं जगत के सम्बन्ध की समस्या है जिसमें मनुष्य रहता है, कार्य करता है तथा अनुभव करता है। मनुष्य तथा जगत के सम्बन्ध के प्रश्न को लेकर पारम्परिक दर्शन में दो विपरीत दृष्टिकोण पाए जाते हैं। एक दृष्टिकोण मनुष्य को भौतिक, सामाजिक एवं शारीरिक परिस्थितियों का परिणाम मानता है। यह दृष्टिकोण प्राकृतिक विज्ञानों की मान्यता प्राप्त है। इस दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्य मनुष्य का जीवन पूर्णतया वाह्य कारणों द्वारा नियंत्रित है। प्राकृतिक दृष्टिकोण यांत्रिक दृष्टिकोण है। इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत यह माना जाता है कि प्रकृति के भीतर सभी वस्तुओं का एक निश्चित स्थान एवं पूर्वनिर्धारित भूमिका है। मनुष्य एवं जगत के सम्बन्ध को लेकर एक दूसरा दृष्टिकोण प्रत्ययवाद है, जिसमें यह माना जाता है कि मानव चेतना का आविर्भाव भौतिक सत्ता से नहीं हुआ है, अपितु उसकी एक स्वतंत्र कोटि है, वस्तुतः वही सत् है। चेतना से ही समस्त जगत निर्मित है तथा जो कुछ चेतनेतर है, वह आभास है। इस विचारधारा की चरम परिणति हेगल के दर्शन में मिलती है। अस्तित्ववादी दर्शन ऐसे सभी परम्परागत दर्शन तंत्रों का विरोध करता है जिसमें मानव के अस्तित्व एवं मानव के अस्तित्वगत प्रश्नों की उपेक्षा की गयी है। अस्तित्ववादी दर्शन में परम्परागत दार्शनिक तंत्रों का निम्नलिखित रूप में प्रयोग किया गया है।

11.3.1 अस्तित्ववाद में प्राकृतिक दृष्टिकोण का प्रतिवाद

प्राकृतिक दृष्टिकोण यांत्रिक दृष्टिकोण है। इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत यह माना जाता है कि प्रकृति एक महान यंत्र है। इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत यह माना जाता है कि प्रकृति एक महान यंत्र है और इस प्राकृतिक जगत में सब कुछ यंत्रवत आबद्ध एवं संचालित है। इस दृष्टिकोण में यह माना जाता है कि प्राकृतिक जगत की अनेक वस्तुओं में से मनुष्य भी एक वस्तु है। अतएव मनुष्य की भी कार्य दिशा पूर्वनिर्धारित है। इस दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्य क्या है और वह क्या करेगा? यह पूर्व निर्धारित है, यह व्यक्ति की इच्छा और निर्णय का विषय नहीं है। जगत की इस प्रकृतिवादी व्याख्या में मनुष्य की व्यष्टिता तथा संकल्प स्वातंत्र की एकदम अवहेलना होती है। ऐस प्रतीत होता है कि मनुष्य इस विशाल मशीनी व्यवस्था में खो सा गया है। उसे वास्तविक स्वतंत्रता नहीं है, उसके जीवन एवं अस्तित्व का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं है, जिसे सिद्धांततः जाना जा सके। इस प्रकार प्रकृतिवादी व्याख्या मनुष्य के व्यष्टिता की अवज्ञा पर आधारित दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण मानव जीवन में एक रिक्तता, असन्तुलन एवं ऊब को जन्म देता है, जिसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य अपने अस्तित्व को वास्तविक आधारों को प्राप्त करना चाहता है किन्तु प्रकृतिवादी दर्शन में मनुश्य के अस्तित्व के आधार के लिए कोई स्थान संभव नहीं है।

11.3.2 प्रत्ययवाद का प्रतिवाद

अस्तित्ववाद प्रत्ययवाद का विरोध करता है। सर्वप्रथम प्लेटो ने प्रत्ययों के वास्तविक सत्ता की बात की, जिसकी चरम परिणति हेगल के प्रत्ययवादी दर्शन में होती है। हेगल के प्रत्ययवाद में सम्पूर्ण चित् एवं अचित् जगत को निरपेक्ष प्रत्यय की ही अभिव्यक्ति माना गया है। हेगेल ने विचार को ही सत् के रूप में घोषित किया है। सत् तर्क एवं बुद्धिपरक है। विचार का विश्लेषण करके सत् का भी विश्लेषण किया जा सकता है। इस प्रत्ययवादी व्यवस्था में चेतना की एक स्वतंत्र कोटि के रूप में स्थापना तो हुई, किन्तु मनुष्य की एक व्यक्ति के रूप में लगभग वही स्थति बनी रही, जैसा कि प्रकृतिवाद में व्यक्ति कुछ नहीं है, वह केवल सामान्य प्रत्यय की अभिव्यक्ति है। उसकी जो कुछ सार्थकता है वह केवल इसलिए है क्योंकि उसमें चित् या प्रत्यय का अंश विद्यमान है। अस्तित्वादी दार्शनिकों का कहना है कि यदि मनुष्य को निरपेक्ष सत् या शुद्ध चेतन मान लिया जाय तो हमारे सामाजिक तथा भौतिक सम्बन्धों की व्याख्या करना मुस्किल हो जाएगा। क्योंकि निरपेक्ष सत् परिभाषया इन सम्बन्धों की कोई अपेक्षा नहीं करता। अस्तित्ववाद वास्तविक मानव अस्तित्व पर बल देता है। वास्तविक मानव अस्तित्व का तात्पर्य जगत में स्थित मानव अस्तित्व से है। वास्तविकता यह है कि मनुष्य एवं जगत का सम्बन्ध विषय एवं विषय का सम्बन्ध नहीं है, जिसमें विषय को विषयी की रचना माना जाता है। मनुष्य एवं जगत का सम्बन्ध उस 'सत्ता' का सम्बन्ध है जिसमें विषयी अपना शरीर है, अपना जगत है तथा अपनी परिस्थिति है।

11.3.3 अस्तित्ववाद में तार्किक एवं बौद्धिक दृष्टि का प्रतिवाद

अस्तित्ववाद दर्शन के अतिबौद्धिककरण के विरुद्ध एक प्रतिवाद है। अस्तित्ववाद का यह मानना है कि तार्किक एवं बौद्धिक प्रक्रिया के द्वारा मानव सत्यों को आत्मसात नहीं किया जा सकता। चिन्तन के अतिबौद्धिक होने पर मानवीय सत की उपेक्षा होती है, जबकि अस्तित्वादी दर्शन का प्रमुख विवेच्य विषय मानव अस्तित्व एवं उसकी आन्तरिक अनुभूतियां हैं।

11.3.4 अस्तित्ववाद के द्वारा सभी प्रकार के अमूर्त विज्ञान का प्रतिवाद

अस्तित्ववाद एवं मानव अस्तित्व की उपेक्षा करने वाले ऐसे सभी अमूर्त विज्ञानों का विरोध करता है, जिसमें मानव मानव अस्तित्व एवं मानवीयता की उपेक्षा की गयी है। आधुनिक युग में विज्ञान ने मनुष्य की भी व्याख्या जगत में स्थित वस्तुओं की ही भांति करने का प्रयास किया, किन्तु मनुष्य जगत की अन्य वस्तुओं की भांति कोई अचेतन सत्ता नहीं है, अपितु एक जीवित चेतन सत्ता है, जिसमें कुछ भी करने और अपने विषय में निर्णय लेने की क्षमता है। इस प्रकार अस्तित्ववाद का मानना है कि अमूर्त विज्ञान

अतिवैज्ञानिकता एवं अमानवीकरण को प्रश्रय प्रदान करने वाली विचारधारा है, जबकि अस्तित्ववाद का मूल्य लक्ष्य मानव अस्तित्व एवं उसकी गरिमा की प्रतिष्ठा करना है।

11.3.5 अस्तित्ववाद के द्वारा केवल विचारशील प्राणी के रूप में मनुष्य को मानने का प्रतिवाद

संसार के सभी प्राणियों में मनुष्य को भी एक विवेकशील प्राणी के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है। मनुष्य केवल अपनी विवेकशीलता के कारण ही संसार के अन्य प्राणियों से भिन्न जातीय लक्षणों से युक्त है। परन्तु वास्तविकता यह है कि मनुष्य में उसकी वैयक्तिकता प्रधान है। मनुष्य के जाति गुणों को जान लेना मात्र से 'मनुष्य' को नहीं जाना जा सकता है। अतएव अस्तित्ववाद मनोविज्ञान की इस प्रवृत्ति का विरोध करता है, जिसमें मनुष्य को उसके जातीय लक्षणों के कारण जाना और समझा जा सकता है।

11.3.6 अस्तित्ववाद सम्पूर्णता की दृष्टि के विरुद्ध प्रतिवाद है

दार्शनिक चिन्तन मूलतः सम्पूर्णता की दृष्टि की बात करता है। अस्तित्ववाद में इस बात को लेकर यह समझ पायी जाती है कि ऐसी कोई दृष्टि संभव नहीं है, जिसे 'सम्पूर्णता की दृष्टि' कहा जाए। जब भी हम किसी दृष्टि की बात करते हैं, तो वह किसी विशेष परिप्रेक्ष्य में ही दृष्टि होती है। जब हम किसी सम्पूर्णता की दृष्टि की बात करते हैं तो वह भी किसी व्यक्ति की दृष्टि है। अतएव अस्तित्ववाद यह मानता है कि सम्पूर्णता की कोई दृष्टि संभव नहीं है, व्यक्ति ही प्रयुक्त है और किसी भी रूप में व्यक्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

11.3.7 अस्तित्ववाद मनुष्य के आन्तरिकता की उपेक्षा के विरुद्ध प्रतिवाद है

अस्तित्वाद में मनुष्य के आन्तरिकता को प्रमुखता प्रदान किया गया है। इसलिए अस्तित्ववाद ऐसे सभी स्थितियों का तथा विज्ञानों का प्रतिवाद करता है जिसमें मनुष्य की आन्तरिकता की उपेक्षा की गयी है। यही कारण है कि अस्तित्ववाद मानव–विज्ञान का विरोध करता है, क्योंकि मानव विज्ञान में यह माना जाता है कि मानव की क्रियाओं, उसके व्यवहारों तथा उसके स्नायुतंत्र, मांसपेशी आदि के स्पंदनों को देखकर, मापकर 'मानव' को समझा जा सकता है। परन्तु अस्तित्ववाद मानव के इस प्रकार से समझे जाने का प्रतिवाद करता है। अस्तित्ववाद का मानना है कि मानव की वास्तविकता उसकी आत्मनिष्ठता में है, आन्तरिकता में है। अस्तित्ववाद की इस प्रवृत्ति के कारण यद्यपि कुछ लोग अस्तित्ववाद पर व्यक्तिवादी एवं आत्मनिष्ठतावादी होने का आरोप लगाते हैं, किन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है। अस्तित्ववाद यह मानता है कि व्यक्ति की वास्तविक अस्तित्व उसके 'अन्तर' में है। उसके आन्तरिकता में है। वस्तुतः अस्तित्ववाद में दुःख

संत्रास भय, वेदना, ऊब आदि आन्तरिक अनुभूतियों के साथ जीवन व्यतीत करने को ही मनुष्य का 'प्रामाणिक जीवन' माना गया है।

11.4 अस्तित्ववाद का भावात्मक पक्ष

अस्तित्ववाद मानव केन्द्रित दर्शन है। इसका सम्बन्ध मानव वास्तविकता से है। यह मानव स्वतंत्रता का प्रबल समर्थक है, इसलिए यह ऐसे सभी दर्शनों का प्रतिवाद किया है, जिसमें मानव स्वतंत्रता का विरोध हुआ है या मानव स्वतंत्रता की उपेक्षा की गयी है। मानव स्वतंत्रता ही वह मूलभूत तत्व है, जिसके कारण मानव अस्तित्ववान होता है। इसलिए सभी अस्तित्ववादी इस बातसे सहमत हैं कि मनुष्य की स्वतंत्रता किस दिशा में प्रवाहित होगी, इसका पूर्व निर्धारण संभव नहीं है। अस्तित्ववाद की यह स्पष्ट मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति हर स्थिति में उसे स्वयं यह निर्णय करना पड़ेगा कि उसे क्या करना है और किस प्रकार का जीवन जीना है। अतएव यह कहा जा सकता है कि अस्तित्ववाद अस्तित्वपरक जीवन व्यतीत करने वाले अस्तित्ववान मनुष्य की अनुभूतियों के माध्यम से मानव अस्तित्व की व्याख्या है। अस्तित्ववाद मनुष्य की आन्तरिकता की व्याख्या है, क्योंकि मानव अस्तित्व की अनुभूति आन्तरिकता की अनुभूति है।

11.4.1 अस्तित्ववाद में एक्जिस्ट शब्द का अर्थ :

अस्तित्ववाद में 'अस्तित्व' के लिए अंग्रेजी के 'एक्जिस्ट' शब्द का प्रयोग किया गया है। पाश्चात्य दार्शनिकों ने 'एक्जिस्ट' शब्द का अर्थ आविर्भाव या उद्‌गमन अथवा 'उभरना', 'उठ खड़ा होना' किया है। इससे स्पष्ट होता है कि इस शब्द का मूल बोध में ही गत्यात्मकता है, यह 'बाहर निकालने', 'उभरने' की प्रक्रिया है। अतः जो अस्तित्ववान है, वह अपने में अपने से उभरता रहता है, साद उद्‌गमन करता रहता है। अतएव अस्तित्ववाद में 'अस्तित्व' का अर्थ है कि अस्तित्व की अनुभूति के साथ उभरते रहना सतत् उद्‌भूत होते रहना। स्पष्ट है कि इस अर्थ में कोई 'वस्तु', 'अस्तित्ववान' नहीं हो सकती केवल मानव अस्तित्व ही ऐसा हो सकता है, जो सततृ रूप में अपने में अपने से उभर रहा है अर्थात सर्जनशील रहता है। वास्तविकता यह है है कि मनुष्य के प्रथम अनुभूति में ही उसे अपने अस्तित्व की भी अनुभूति होती है। इसलिए अस्तित्ववाद मानव के आन्तरिकता के विकास को व्यंजित करता है, जो मानव अस्तित्व के प्रथम अनुभूति से प्रारम्भ होकर मृत्यु तक सतत् रूप में उसके अस्तित्व को सर्जनशील रखती है।

11.4.2 अस्तित्ववाद में 'अस्तित्व' का अर्थ है –अस्तित्व के साथ जीना है

अस्तित्ववाद में मानव अस्तित्व का अर्थ है– 'अस्तित्व की अनुभूति के साथ जीना'। अस्तित्ववादी दर्शनिकों ने अपने विवेचन का प्रमुख विषय मनुष्य की आन्तरिकता को बनाते हुए यह स्पष्ट किया है कि मनुष्य को अपने अस्तित्व के प्रथम अनुभूति में यह अनुभूति भी होती है कि वह एक परिस्थिति में है। इस प्राथमिक अनुभूति में परिस्थिति की चेतना तो अस्पष्ट ही रहती है, किन्तु वाद का विश्लेषण यह स्पष्ट कर देता है कि इस परिस्थिति के दो मूल अवयव हैं– एक वस्तुएं और दूसरा 'अन्य'। मनुष्य को अपने प्रथम अनुभूति के साथ ही उसे यह भी अनुभूति होती है कि उसके वैयक्तिकता का विकास भी जगत में स्थित 'वस्तुओं की अनुभूति' एवं 'अन्य की अनुभूति' से प्रभावित है। अतएव मनुष्य को अपने अस्तित्व के प्रथम अनुभूति में ही तीन आयाम स्पष्ट होते हैं– वस्तु, वह स्वयं तथा अन्य। सभी अस्तित्ववादी इन तीनों आयामों के पारस्परिक सम्बन्ध, व्यक्ति की अन्य के प्रति अनुभूति आदि का विवेचन अपने–अपने ढंग से करते हैं। यहां तक कि इनमें से कुछ इस विवेचन में ईश्वर को ढूंढ लेते हैं तथा कुछ इस अनुभूति में

मानवीय व्याख्या को उपयुक्त समझते हैं।

11.4.3 अस्तित्व की प्रथम अनुभूति मानव को एकाकी या अकेलेपन की अनुभूति है। प्रायः सभी अस्तित्ववादी यह मानते हैं कि मानव को अपने अस्तित्व के प्रथम अनुभूति में ही अपने अकेलेपन की भी अनुभूति होती है। मानव के अकेलेपन की अनुभूति ही उसकी आन्तरिकता को विकसित होने की अवस्था है, जिसमें मनुष्य को अपने मौलिक स्वतंत्रता की भी अनुभूति होती है।

11.4.4 स्वतंत्रता एवं दायित्व

अस्तित्ववाद मानव स्वतंत्रता का प्रबल पक्षधर है। अस्तित्ववादी दार्शनिक ज्याँ पाल सार्त्र ने मानव स्वतंत्रता को उसके अस्तित्व का पर्याय मान लिया है। उसने स्वतंत्रता को मानव अस्तित्व के विकास एव निर्माण के लिए आवश्यक शर्त माना है। ज्याँ पाल सार्त्र ने मानव स्वतंत्रता को 'चुनाव' के अर्थ में ग्रहण किया है और यह स्पष्ट घोषणा किया है कि मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है।' यह मनुष्य की विवशता ही उसे सतत आत्मनिर्माण के लिए उत्तरदायी बनाती है। अतएव मानव स्वतंत्रता के दायित्व भी जुड़ा होता है। ऐसा नहीं हो सकता कि मनुष्य अपने आत्मनिर्माण में कोई बहाना ढूंढकर बच ले। मनुष्य के आत्मनिर्माण का पूरा दायित्व उसी पर है। जब वह दायित्व से पलायन करता है या उससे बचने का कोई बहाना ढूंढता है, तो तो स्वयं से झूठ बोलता है, जो कि एक प्रकार की आत्म प्रवंचा की अवस्था है और सार्त्र इस अवस्था को ही दुरावस्था की अवस्था कहा है।

11.4.5 मनुष्य का प्रामाणिक एवं अप्रमाणिक अस्तित्व

मनुष्य के मौलिक स्वतंत्रता के कारण ही मानव का प्रामाणिक एवं प्रमाणिक अस्तित्व उसके प्रामाणिक अस्तित्व एवं अप्रमाणिक अस्तित्व में अन्तर स्पष्ट होता है। प्रायः सभी अस्तित्ववादी मनुष्य या तो अपनी मौलिक स्वतंत्रता को प्रयोग करते हुए तथा अपनी स्वतंत्रता को क्रियान्वित करते हुए अपने आत्मनिर्माण करता है या वह अपने मौलिक स्वतंत्रता से भागने या बचने का प्रयास करता है। मनुष्य के द्वारा किया गया इस प्रकार कोई भी प्रयास उसके प्रामाणिक अस्तित्व एवं अप्रमाणिक अस्तित्व के भेद को स्पष्ट करता है। कुछ अस्तित्ववादी विचारकों ने प्रामाणिक अस्तित्व की परिणति 'आस्था' या 'ईश्वर में विश्वास' में खोजने का प्रयास किया है, तो कुछ अस्तित्ववादी विचारकों ने मानव के आन्तरिकता में अन्तर्निहित दुःख, पीड़ा, वेदना, संत्रास, चिन्ता, भय ऊब, निराशा आदि अनुभूतियों के साथ जीवन व्यतीत करने को ही एक मात्र 'प्रामाणिक अस्तित्व' माना है।

11.5 ज्याँ पाल सार्त्र का नास्तिकवाद या निरीश्वरवादी अस्तित्व

ज्याँ पाल सार्त्र का नास्तिकतावादी या निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद सम्पूर्ण अस्तित्ववादी चिन्तन दो वर्गों में स्पश्ट रूप से बंटा हुआ है– निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद एवं ईश्वरवादी अस्तित्ववाद। यद्यपि अस्तित्ववादियों का एक तीसरा भी वर्ग है जो ईश्वर के प्रति तटस्थ दृष्टिकोण को अपनाया है और इस वर्ग के प्रमुख दार्शनिक अलबेयर कामू हैं। अधिकांश अस्तित्ववादी दार्शनिक या तो ईश्वर में विश्वास को प्रकट करते हुए अपने अस्तित्ववादी दर्शन का निरूपण करते हैं या ईश्वर विहीन जगत में मानव के निरपेक्ष स्वतंत्रता या किसी भी प्रकार की बाधा से रहित स्वतंत्रता का समर्थन करते हुए यह

दिखाना चाहते हैं कि मनुष्य जो कुछ भी होता है, वह जो कुछ भी बनता है, वह उसके स्वतंत्र चुनाव का ही परिणाम है। निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद का समर्थन करने वाले दार्शनिकों में नीत्शे, हाइडेगर एवं ज्याँ पाल सार्त्र प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। सर्वप्रथम नीत्से ने यह उद्घोषणा की कि पहले ईश्वर का अस्तित्व था किन्तु अब ईश्वर नहीं रहा। ईश्वर की मृत्यु हो गयी है। ईश्वर की मृत्यु के साथ ईश्वर के नाम पर निर्धारित किये मूल्य भी विनष्ट हो गये।

नीत्शे यह मानता है कि ईश्वर की सत्ता में विश्वास मनुष्य का मूल्य और महत्व नष्ट कर देता है। इस प्रकार नीत्शे एक ओर मनुष्य को मूल्यों के सृजन में स्वतंत्र मानता है, तो दूसरी ओर ऐसे जीवन को व्यतीत करने की सम्मति देता है, जिससे वह शाश्वत प्रत्यावर्तन की इच्छा कर सकें। ज्याँ पाल सार्त्र ने भी नीत्शे को ही परम्परा का अनुसरण करते हुए निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद का समर्थन भी किया है ज्याँ पाल सार्त्र ने नीत्शे से भी आगे बढ़कर कहा कि ईश्वर मर गया है और उसका मर जाना ही अच्छा है, क्योंकि इस ईश्वर रहित विश्व में मनुष्य का प्रयोजन स्वयं ईश्वर बनना होगा। मनुष्य इस ईश्वररहित विश्व में अपने स्वतंत्र चुनावों के द्वारा अपने आत्म निर्माण को और अच्छे ढंग से कर सकता है। वस्तुतः सार्त्र ईश्वर की सत्ता के निषेध के द्वारा यह स्पष्ट करना चाहता है कि सम्पूर्ण मानवीय स्थिति को मानवीय सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। मानवीय समस्याओं का कोई अनुभवातीत समाधान नहीं है।

11.6 ज्यां पाल सार्त्र के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन

ज्याँ पाल सार्त्र अपने अस्तित्ववादी दर्शन में मानव के अत्मनिर्माण का सम्पूर्ण दायित्व उसी पर डालने के लिए ईश्वर की सत्ता का खण्डन करते हैं। ईश्वर के अस्तित्व के खण्डन के लिए सार्त्र दो प्रकार का तर्क प्रस्तुत करते हैं –

(i) ईश्वर का प्रत्यय आत्मव्याघाती है एवं

(ii) धार्मिक जीवन दुरावस्था पर आधारित है

11.6.1 ईश्वर का प्रत्यय आत्मव्याघाती है

सर्वप्रथम ज्याँ पाल सार्त्र ईश्वर के प्रत्यय को आत्मघाती प्रत्यय के रूप में सिद्ध करने के लिए तर्क देते हैं। ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि सृष्टिकर्ता ईश्वर की धारणा असंगत है तथा उसमें मानव स्वतंत्रता के लिए कोई स्थान नहीं है। सार्त्र कहते हैं कि यदि ईश्वर की सृष्टि आन्तरिक रूप से ईश्वर पर निर्भर करती है तो उसकी कोई पृथक सत्ता नहीं है, वह स्वतंत्र नहीं है, इसलिए मनुष्य भी स्वतंत्र नहीं है। यदि मनुष्य जो कि ईश्वरी सृष्टि है स्वतंत्र है तथा अपनी सत्ता के लिए ईश्वर पर किसी भी प्रकार से निर्भर नहीं है तो उसे सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है। सृष्टिकर्ता ईश्वर और उसकी सृष्टि से मनुष्य के सम्बन्धों को लेकर दो ही विकल्प संभव हैं–

(i) या तो मनुष्य ईश्वर परतंत्र है, इसलिए स्वतंत्र नहीं है अथवा

(ii) वह स्वतंत्र है और उसे सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है।

मनुष्य की स्वतंत्रता सार्त्र के दर्शन का मूलाधार है। मानव स्वतंत्रता के प्रबल पक्षधर ज्याँ पाल सार्त्र प्रथम विकल्प को अस्वीकार करते हुए सृष्टिकर्त्ता से स्वतंत्र सृष्टि के प्रत्यय को स्वीकार करते हुए सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की निरपेक्ष स्वतंत्रता एवं असीमता को खण्डित कर देता है। सार्त्र उन सभी प्रयासों से असहमत हैं जो मनुष्य की स्वतंत्रता के बीच सामंजस्य स्थापित करते हैं। इस सम्बन्ध में वह लाइबनित्ज के दर्शन का उल्लेख करता है और लाइबनित्ज के इस विचार को व्यक्त करता है कि वह मनुष्य का सारतत्व ईश्वर द्वारा पूर्व निर्धारित मान लेता है। लाइबनित्ज का 'पूर्व स्थापित सामंजस्य' का सिद्धांत मनुष्य की स्वतंत्रता को स्थापित करने का असफल प्रयास है, क्योंकि यदि मनुष्य के जीवन के रूपरेखा पूर्व निर्धारित है, तो उस निर्धारण के भीतर स्वतंत्र कर्म का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। अतएव सार्त्र के समक्ष केवल एक विकल्प दिखाई देता है– मनुष्य की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए ईश्वर को मृत घोषित करना।

ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि ईश्वर का प्रत्यय आत्म–व्याधाती प्रत्यय है। ईश्वर का यह प्रत्यय 'स्वनिमित्त सत्ता' और 'स्वयं में सत्ता' के पूर्ण सामंजस्य का प्रत्यय है, जो तर्कतः असंभव है। चेतना अपने पारदर्शी स्वरूप को बनाए रखते हुए भी वस्तु के स्थायित्व को प्राप्त करना चाहती है। किन्तु ऐसा संभव नहीं है। पूर्ण संतुष्ट चेतना एक असंभावना है। चेतना एक योजना है, उसका व्यंभू का प्राप्त करने का प्रयास सर्वथा निष्फल है, क्योंकि स्वयंभू की धारणा अतार्किक है।

ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि स्वयंभू ईश्वर की धारणा इसलिए भी आत्म–व्याघाती है क्योंकि यदि ईश्वर स्वतः उत्पन्न है तो इसका अर्थ है कि ईश्वर और उसकी आत्मा में भेद है (एक उत्पन्न करता है और एक उत्पन्न होता है)। यह भेद ईश्वर की आत्मा को आपातिक बना देता है, ईश्वर की आत्मा परतंत्र हो जाती है। परन्तु आपतिक स्वरूपवाला ईश्वर वस्तुतः ईश्वर नहीं रह जाता है। वस्तु स्थिति इस प्रकार है –यदि ईश्वर का अस्तित्व है, तो ईश्वर आपातिक है और आपातिक ईश्वर ईश्वर नहीं है आदि यदि ईश्वर आपातिक नहीं है, तो उसका अस्तित्व नहीं है।

सृष्टि एवं ईश्वर के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि सृष्टि ईश्वर में समाहित है, किन्तु ईश्वर सृष्टि के परे है। सार्त्र के अनुसार अतिवर्ती ईश्वर का प्रत्यय भी आत्म–व्याघात से रहित नहीं है। वास्तविकता यह है कि सृष्टि एक समष्टि है, उसका न तो कोई 'वाह्य' है और न कोई आभ्यन्तर। इसलिए या तो ईश्वर अतिवर्ती अर्थात् निरपेक्ष विषयी है, उस दशा में वह मानवीय अभियानों का विषय नहीं है अथवा वह विषय है और तब वह सृष्टि से अतिवर्ती नहीं है।

11.6.2 धार्मिक जीवन दुरावस्था पर आधारित है

ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार व्यक्ति का धार्मिक जीवन और व्यवहार मनुष्य के 'दुरावस्था' का सूचक है। अपने एकाकीपन से भयभीत तथा उत्तरदायित्व के भार को सहन करने में अक्षम व्यक्ति ईश्वर का सहारा लेता है। ईश्वर की स्वकृति मानव अस्तित्व की वास्तविकता से पलायन करने की एक विधि है। दुरावस्था का शिकार मनुष्य मानवीय सम्बन्धों में ईश्वर के हस्तक्षेप को स्वीकार करता है। जिससे कि वह अपने द्वारा किये गये कार्यों के उत्तरदायित्व से बच सके। सार्त्र के नाटक 'दि फ्लाइज' का नायक ईश्वर की ऐसी कल्पना का विरोध करके मानव के मौलिक स्वतंत्रता की घोषणा करता है। ईश्वर के अस्तित्व का समर्थक ज्यूस जब ईश्वररहित जगत का भयावह रूप प्रस्तुत करता है तब ओरेस्टेट उत्तर देता है कि ईश्वर पत्थरों, नदियों एवं पर्वतों का स्वामी तो हो सकता है, किन्तु मनुष्य का नहीं। इस प्रकार सार्त्र मानव मानव स्वतंत्रता की स्थापना के लिए मसीही ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करते हैं।

11.7 शून्यता की अनुभूति

ज्याँ पाल सार्त्र एवं हाइडेगर दोनों ने यह स्वीकार किया है कि ईश्वर रहित विश्व में मनुष्य को अपने अस्तित्व में 'शून्यता' की अनुभूति होती है। यह 'शून्यता'निषेध के माध्यम से मानव सत की अनुभूति है। ज्याँ पाल सार्त्र 'शून्यताभाव' को मनुष्य के अस्तित्व की अपूर्णताओं के अर्थ में ग्रहण किया है। उसका कहना है कि चेतना बिना निषेध के संरचित हो ही नहीं सकता। मानव अपने आत्म निर्माण की योजनाओं को भी निषेधात्मक ढंग से सर्जित करता रहता है। अतएव मानव अस्तित्व के सतत् निर्माण की प्रक्रिया में शून्यता की अनुभूति एक प्रकार से उस अभाव की स्थिति है,जिससे मनुष्य अपने प्रयासों एवं कर्मों के द्वारा भरना चाहता है।

11.8 निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि ज्याँ पाल सार्त्र का अस्तित्ववाद मानव केन्द्रित दर्शन है। इसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा उसकी व्यष्टिता को विशेष महत्व दिया गया है। ज्याँ पाल सार्त्र का अस्तित्ववाद मानव केन्द्रित दर्शन है। इसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा उसकी व्यष्टिता को विशेष महत्व दिया गया है। ज्याँ पाल सार्त्र ने अपने अस्तित्ववाद में यह दिखाया है कि मनुष्य के होने का अर्थ है– उसका विषयी होना है, वह विषयी जो कि एक विशेष विषयी के रूप में अपने 'होने' की अनुभूति करता है। ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार एक अस्तित्ववान मूलभूत विषयी मूलभूत सत्य है, उसका अन्तर्भाव किसी सार्वभौम तथा अमूर्त कोटि में नहीं किया जा सकता और विषयी के रूप में व्यष्टि के रूप में मनुष्य स्वयं अपने स्वरूप का निर्धारण करता है। सार्त्र का

यह स्पष्ट अभिमत है कि 'मनुष्य अपने स्वरूप का निर्माण स्वयं करता है। सार्त्र के इस कथन का निहितार्थ यह है कि मनुष्य स्वतंत्र है, जो कुछ करता है, उसके लिए स्वयं उत्तरदायी है। मनुष्य इस संसार में विल्कुल एकाकी है और ईश्वर जैसी कोई ऐसी सर्वशक्तिमान सत्ता नही नहीं है, जिससे वह सहायता की अपेक्षा रख सके। मनुष्य ही अपने नियमों, मूल्यों एवं प्रतिमानों का स्रष्टा है। जब मनुष्य अपने स्थापित प्रतिमानों, मूल्यों एवं परंपराओं के आड़ में वह कोई निर्णय लेने से कतराने लगे, तो समझ लेना चाहिए कि वह स्वयं कुछ करने में असफल हो चुका है। अतएव यह कहा जा सकता है कि ज्याँ पाल सार्त्र का अस्तित्ववादी चिन्तन मनुष्य की उसी संवेदना को जगाने की चेष्टा करता है, जो उसे निर्णय लेने के जोखिम के लिए आह्वान करता है, जीवन एवं जगत को एक नयी मूलगामी दृष्टि से देखने के लिए प्रेरित करता है। अतएव कहा जा सकता है कि ज्याँ पाल सार्त्र ने अपने निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद में यह प्रतिष्ठापित किया है कि सत्य जानने की अपेक्षा अनुभव करने का विषय है और सत्य के साथ अस्तित्वपरक सम्बन्ध करके ही उसे जाना जा सकता है।

11.9 सारांश

ज्याँ पाल सार्त्र का अस्तित्ववाद मानव केन्द्रित दर्शन है। ज्याँ पाल सार्त्र अपने अस्तित्ववाद की स्थापना के पूर्व ऐसे सभी प्रचलित दार्शनिक सिद्धांतों का खण्डन करते हैं, जिसमें मानव अस्तित्व की उपेक्षा हुई है। सार्त्र की यह स्पष्ट मान्यता है कि अर्थहीन जगत को मनुष्य ही सार्थकता प्रदान करता है। अस्तित्ववाद मनुष्य की आन्तरिकता की व्याख्या है, क्योंकि अस्तित्व की अनुभूति आन्तरिकता की अनुभूति है। अस्तित्ववाद में मानव 'अस्तित्व' का अर्थ है –अस्तित्व के साथ जीना। अस्तित्ववाद यह मानता है कि मनुष्य को अपने प्रथम अनुभूति में अपने एकाकीपन की भी अनुभूति होती है। मानव के इस अनुभूति उसकी मौलिक स्वतंत्रता व्यक्त होती है। उसे यह स्पष्ट अनुभूति होती है कि अब सब कुछ उसी पर निर्भर है कि वह भविष्य में क्या बनेगा? उसके आत्म निर्माण में ईश्वर जैसी किसी शक्ति से भी सहायता नहीं मिल सकती है। उसके आत्मनिर्माण का सम्पूर्ण दायित्व उसी पर है। मानव के निरपेक्ष स्वतंत्रता के समर्थक ज्यां पाल सार्त्र ईश्वर की सत्ता को भी अस्वीकार कर देते हैं। सार्त्र का यह मानना है कि सम्पूर्ण मानवीय स्थिति को मानवीय सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि इस ईश्वर रहित विश्व में निषेध के माध्यम से मनुष्य को अपने अस्तित्व की अनुभूति होती है। इस निषेध को सार्त्र शून्यताभाव कहते हैं। यह शून्यता भाव मानव अस्तित्व की अपूर्णता है जिसके कारण ही मनुष्य अपने आत्मनिर्माण की प्रक्रिया में निरन्तर लगा रहता है और अपने आत्म निर्माण की संभावनाओं की निरन्तर खोज करता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ज्याँ पाल सार्त्र का अस्तित्ववादी चिन्तन मनुष्य की उसी संवेदना को जगाने की चेष्टा करता है, जो उसे निर्णय लेने के जोखिम के लिए आह्वान करता है।

11.10 बोध प्रश्न

1. ज्याँ पाल सार्त्र के द्वारा की गई प्रारंभिक दर्शनों की आलोचना को स्पष्ट कीजिए।
2. 'ज्याँ पाल सार्त्र का अस्तित्ववाद मानव वास्तविकता की अनुभूति है' विवेचना कीजिए।
3. ज्याँ पाल सार्त्र अपने अस्तित्ववाद की स्थापना के लिए जिन तर्कों के आधार पर ईश्वर का खण्डन करते हैं, उसका विवेचन कीजिए।

11.11 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन पाश्चात्य दर्शन : प्रो. बी.के. लाल
2. अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक : लक्ष्मी सक्सेना, सभाजीत मिश्र
3. Jean Paul Sartre - Maurice

इकाई –12 ज्याँ पाल सार्त्र–अस्तित्व एवं सार का सम्बन्ध

रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 अस्तित्ववाद मानव अस्तित्व के निरूपण को प्रमुखता देता है

12.3 ज्याँ पाल सार्त्र द्वारा मानव अस्तित्व की परिभाषा

12.4 मानव अस्तित्व पूर्व निर्धारित नहीं है

12.5 ज्याँ पाल सार्त्र का अस्तित्ववाद मानव वास्तविकता का दर्शन है

12.6 दर्शन का मुख्य कार्य मनुष्य को अपने अस्तित्वगत समस्या के प्रति सचेत करना

12.7 मनुष्य का प्रामाणिक अस्तित्व वास्तविक तथा आदर्श के जीवंत 'तनाव' को जीने में है

12.8 अस्तित्ववाद विचार से परे व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बोध का दर्शन है

12.9 मनुष्य का कार्य ही उसका वास्तविक स्वरूप है

12.10 अस्तित्ववाद मनुष्य की व्यष्टिता का दर्शन है

12.11 ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार अपने कार्यों द्वारा मनुष्य अपने तथा अन्य के सार का निर्धारण करता है।

12.12 ज्याँ पाल सार्त्र के अस्तित्ववाद के विरुद्ध आपत्तियां, भ्रांन्तियां और उनका निराकरण

12.13 निष्कर्ष

12.14 सारांश

12.15 बोध-प्रश्न

12.16 उपयोगी पुस्तकें

12.0 उद्देश्य

– सार्त्र के द्वारा अस्तित्ववाद की की गयी अधिकारिक परिभाषा–'अस्तित्व सार का पूर्वगामी है' का निरूपण किया गया है और अस्तित्ववाद के सन्दर्भ में इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

– अस्तित्ववाद की सामान्य विशिष्टताओं का विवेचन किया गया है।

– अस्तित्ववाद के विरुद्ध किये गये आक्षेपों का निरूपण किया गया है तथा ज्याँ पाल सार्त्र द्वारा उस पर लगे आरोपोंका उत्तर दिया गया है।

12.1 प्रस्तावना

ज्याँ पाल सार्त्र अस्तित्ववादी दार्शनिक हैं। इन्होंने अपने अस्तित्ववाद में मानव अस्तित्व को अपने विवेचन का मुख्य विषय बनाया। अस्तित्ववाद विचारधारा कोई भी दार्शनिक अपने को अस्तित्ववादी कहलाने से कतराता है, किन्तु ज्याँ पाल सार्त्र ऐसे अस्तित्ववादी दार्शनिक रहे हैं, जिन्होंने अपने को अस्तित्ववादी घोषित किया और अस्तित्ववादी चिंतन का मुख्य विषय 'मानव का अस्तित्व क्या है?' को बनाया। यद्यपि समकालीन पाश्चात्य दर्शन में अस्तित्ववादी विचारधारा जितनी लोकप्रिय हुई है, उतनी ही अस्पष्ट और अनिश्चित भी रही है। अतएव अस्तित्ववाद की कोई सुनिश्चित परिभाषा देना कठिन है। यह कठिनाई तब और बढ़ जाती है, जबकि स्वयं वे दार्शनिक, जिन्हें सामान्य रूप से अस्तित्ववादी दार्शनिक के रूप में जाना जाता है, अपने को अस्तित्ववादी कहने में संकोच करते हैं।

कार्ल यास्पर्स निस्संदेह अस्तित्ववादी है, किन्तु वे अपने दर्शन को 'अस्तित्ववाद' न कहकर 'अस्तित्व दर्शन' कहना अधिक पसन्द करते हैं। हाइडेगर भी अपने दर्शन को स्पष्ट रूप से अस्तित्ववाद न कहकर 'अस्तित्वपरक विश्लेषकी' अथवा 'आधारभूत सत्तामीमांसा' कहे जाने के समर्थक रहे हैं। सोरेन किर्केगार्ड जो अस्तित्ववाद के प्रेरणास्रोत हैं, की किसी 'स्कूल' या 'सम्प्रदाय' की स्थापना में कोई रुचि नहीं थी तथा गैब्रियल मार्सल ने अस्तित्ववादी बिल्ला लगाने से इनकार किया। ज्याँपाल सार्त्र, सिमोन द बोउआ अलवेयर कामू एवं मार्लियो पॉन्ती को प्रायः एक समूह के रूप में देखा जा सकता है, किन्तु कामू ने अपने को अस्तित्ववादी कहने से इन्कार किया। सिमोन द बेउआ निरन्तर सार्त्र का समर्थन करती रही हैं, किन्तु उनकी रचनाएं दार्शनिक उपन्यासों तक सीमित हैं। इस प्रकार अस्तित्ववादी विचारकों का एक संगठित समूहन बन सका, न ही अस्तित्ववादी दर्शन का उस प्रकार का कोई घोषणापत्र निकाला गया जिसप्रकार घोषणा पत्र 'वियना सर्किल' की स्थापना करने वाले तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने निकाला था। फ्रांसीसी दार्शनिक ज्याँ पाल सार्त्र अकेले ऐसे दार्शनिक हैं, जिसने अपने को स्पष्ट रूप से अस्तित्वादी घोषित किया। ज्याँ पाल सार्त्र ने अस्तित्ववाद का आस्तिक एवं नास्तिक अस्तित्ववाद में विभाजन भी किया तथा अस्तित्ववाद को स्पष्ट करने का प्रयास किया। ज्याँ पाल सार्त्र ने अस्तित्ववाद के ऊपपर लगाये गये विभिन्न आरोपों का निराकरण करने के लिए 'एग्जिस्टेन्शियलिज्म एण्ड ह्यूमनिज्म' नामक ग्रन्थ भी लिखा, य़द्यपि बाद में उसने भी इस गन्थ के प्रकाशन को एक भूल के रूप में स्वीकार किया और इस ग्रन्थ के प्रकाशन पर खेद प्रकट किया। इस प्रकार अस्तित्ववादी दार्शनिकों में स्वतः इतना मत वैभिन्य है कि इस इस दर्शन को परिभाषितकरने का कार्य नितान्त दुरूह प्रतीत होता है।

12.2 अस्तित्ववाद मानव अस्तित्व के निरूपण को प्रमुखता देता है

अस्तित्ववाद ने वास्तविक मानवीय अस्तित्व को अपने चिन्तन का विषय बनाया। अस्तित्ववादी दर्शन के पूर्व प्रत्ययवाद में तत्व को अथवा प्रत्यय को प्रमुख माना गया और मानव अस्तित्व, उसके व्यक्तित्व को गौण माना गया। वस्तुवाद में मनुष्य को भी संसार की अनेक वस्तुओं के बीच एक वस्तु मात्र माना गया है। परन्तु मनुष्य को विश्व की अनेक वस्तुओं के बीच एक वस्तु के रूप में नहीं देखा जा सकता, क्योंकि उस दशा में

वह भौतिक पदार्थों–मेज, कुर्सी आदि की भांति अपनी सत्ता में सीमित होगा तथा किसी अन्य वस्तु को न तो जान सकेगा और न ही उसके साथ कोई सम्बन्ध स्थापित कर सकेगां अतएव ज्यांपाल सार्त्र अपने अस्तित्ववादी दर्शन में वास्तविक मानव अस्तित्व को प्राथमिकता प्रदान करता है। ज्यां पाल सार्त्र के अस्तित्ववादी चिंतन में वास्तविक मानव अस्तित्व से तात्पर्य जगत में स्थित मानव से है। सार्त्र का कहना है कि मनुष्य एवं जगत का सम्बन्ध एक विषय एवं दूसरे विषय का सम्बन्ध नहीं है और न ही यह विषय और विषयी का सम्बन्ध है, जिसमें विषय विषयी की रचना है। वस्तुतः अस्तित्ववाद में मनुष्य एवं जगत का सम्बन्ध उस सत्ता का सम्बन्ध है जिसमें विषयी अपना शरीर है, अपना जगत है तथा अपनी परिस्थिति है। इसीलिए ज्याँ पाल सार्त्र ने अस्तित्ववाद की अधिकारिक परिभाषा देते हुए कहा– 'अस्तित्व सार का पूर्वगामी है।'

12.3 ज्याँ पाल सार्त्र द्वारा मानव अस्तित्व की परिभाषा

यद्यपि अधिकांश अस्तित्ववादी दार्शनिक अपने–अपने ढंग से अपने अस्तित्ववादी विचारों को व्यक्त किए हैं और अपने को अस्तित्ववादी कहे जाने में संकोच करते रहे हैं, किन्तु ज्याँ पाल सार्त्र ने अपने को स्पष्ट रूप से अस्तित्ववादी घोषित करते हुए अस्तित्ववाद की परिभाषा देते हुए यह कहा कि –''अस्तित्व का सार पूर्वगामी है (Existance precedes essence)। अपने इस कथन का सार्त्र यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि संसार में स्थित वस्तुओं की भांति मनुष्य का कोई पूर्व निर्धारित सार नहीं है। उदाहरण के लिए हम एक कुर्सी को ले सकते हैं। कुर्सी एकपदार्थ है, जिसका निर्माण बढ़ई ने किया है। कुर्सी को बनाने की प्रेरणा उसे कुर्सी के प्रत्यय से मिली अर्थात् कुर्सी का प्रत्यय या विचार उसके मन में पहले आया और उसी विचार को अपने निर्माण कौशल के द्वारा वस्तु का रूप दे दिया। कुर्सी के बनने के पहले उसके मन में यह धारणा थी कि कुर्सी क्या होती है, उसका रूप कैसा होता है तथा उसकी क्या उपयोगिता होती है? किसी विशेष कुर्सी के निर्माण के पहले ये सभी धारणाएं पूर्व विद्यमान होती हैं तथा उसके स्वरूप को निर्धारित और परिभाषित करती हैं। हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि कोई व्यक्ति कुर्सी का निर्माण करे, किन्तु यह न जानें कि वह क्या बना रहा है। अतः कुर्सी का के संबंध में हम यह कह सकते हैं कि उसका अस्तित्व उसके सार द्वारा निर्धारित है। कुर्सी के सार से तात्पर्य उसके गुण, उपयोगिता तथा निर्माण विधि से है। वास्तविक कुर्सी के अस्तित्व में आने से पूर्व ये सभी बातें विद्यमान होती हैं, और वस्तुतः उन्हीं के नाते कुर्सी का निर्माण होता है।

12.4 मानव अस्तित्व पूर्व निर्धारित नहीं है

ज्याँ पाल सार्त्र का मानना है कि डेकाट्ट तथा लाइबनित्ज जैसे दार्शनिक जो कि सृष्टिकर्ता ईश्वर में विश्वास करते हैं मनुष्य के अस्तित्व को कुर्सी के समान पूर्व निर्धारित बना देते हैं। सृष्टिकर्ता ईश्वर के मन में अपनी सृष्टि (जिसमें मनुष्य सम्मिलित है) का

प्रत्यय उसी प्रकार पूर्व विद्यमान होता है, जैसे कि बढ़ई के मन में कुर्सी का प्रत्यय पूर्व विद्यमान होता है। कुर्सी के अस्तित्व के हर पहलू–रूप, आकार, रंग आदि पूर्व विद्यमान प्रत्यय द्वारा निर्धारित है, उसके अस्तित्व में आने से पूर्व उसका सार निर्धारित हो चुका है अथवा यों कहें उसके सार ने जो प्रत्यय के रूप में बढ़ई के मन में विद्यमान है, उसके अस्तित्व को पूर्व निर्धारित कर दिया है। डेकार्ट एवं लाइबनिज का भी यह मानना है कि ईश्वर एक महान कलाकार है, मनुष्य उसके दैवी विवेक अथवा प्रत्यय का परिणाम है। ईश्वर ने इच्छा की कि 'प्रकाश हो जाए' और 'प्रकाश हो गया' उसी प्रकार ईश्वर के नम में विचार आया कि एक सृष्टि की रचना हो, जिसमें मनुष्य जैसा प्राणी हो, वह अमुक–अमुक लक्षणों से युक्त हो। अतएव इसप्रकार उत्पन्न मनुष्य का स्वभाव इसके सारे क्रिया–कलाप उसके सभी पारस्परिक संबन्ध उसके जीवन में आने वाले सभी उतार–चढ़ाव, भय, निराशा, मृत्यु, ऊब, रिक्तता किसी सामान्य प्रत्यय या दैवी इच्छा की अभिव्यक्ति है। ऐसे मनुष्य के सम्बन्ध में उसका सार उसके अस्तित्व कापूर्वगामी होता है। यह निस्संदेह रूप से कहा जा सकता है कि सभी प्रत्ययवादी दर्शन को सृष्टिकर्ता ईश्वर को परमसत् के रूप में नहीं स्वीकार करते। हेगल, ब्रैडले, टी0एच0ग्रीन का परम सत् ईश्वर नहीं है, वह निरपेक्ष है, जिस पर कोई क्रिया या इच्छा नहीं आरोपित की जा सकती। प्रत्ययवादी दार्शनिकों का यह मानना है कि मनुष्य इसलिए मनुष्य है क्योंकि, वह निरपेक्ष सत् की अभिव्यक्ति है। मनुष्य सांसारिक मनुष्य के रूप में वास्तविक नहीं है, वह अपने वास्तविक स्वरूप का बोध निरपेक्ष सत् अथवा (भारतीय दर्शन की शब्दावली में कहा जाए, तो कहा जा सकता है कि) ब्रह्म होकर ही कर सकता है। निरपेक्ष प्रत्ययवादियों की ओर से यह भी कहा जा सकता है कि यह निरपेक्ष सत् कोई अतिरिक्त या पारलौकिक सत्ता नहीं है, अपितु यह मनुष्य के स्वरूप का ही एक आयाम है, तथापि इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस प्रकार के प्रत्ययवादी दर्शन में 'वास्तविक मनुष्य' की वास्तविकता की अभिव्यक्ति किसी अन्य स्थिति में होती है और यह अन्य स्थिति जो कुछ भी हो, उसका संभाव्य स्वरूप पहले से ज्ञात है। अतएव इस तंत्र में मनुष्य की व्यष्टिता का निषेध किया गया है। मनुष्य निरपेक्ष सत् के रूप में वास्तविक है, व्यक्ति रूप में नहीं।

ज्याँ पाल सार्त्र का मानना है कि यद्यपि काण्ट का हेगेल ने व्यष्टि तथा सामान्य की समस्या को सुलझाने के लिए चित् सामान्य एवं मूर्त सामान्य की कल्पना की। दोनों का अभिप्राय यह है कि सांमान्य ही वास्तविक है, यह सर्वथा परिपूर्ण है। इसमें व्यष्टि की इच्छाओं और आकांक्षाओं की कोई भूमिका नहीं है। वह पूर्व विद्यमान वास्तविकता है। वह आज्ञापालन का विषय है, इच्छा का विषय नहीं। इसमें व्यष्टि की स्वतंत्र इच्छा अथवा चुनाव का प्रश्न महत्वपूर्ण नहीं है। अपने स्वरूप तथा आत्मविकास के लिए व्यक्ति यह नहीं सोचता है कि उसे क्या करना चाहिए तथा किस मार्ग पर चलना है। उसकी कार्यदिशा और मार्ग दिशा निर्धारित है। निरपेक्ष सत् की छाया में व्यक्ति अपना विकास

कर सकता है, किन्तु विकास प्रक्रिया का अन्तिम बिन्दु भी उसे ज्ञात है, क्योंकि निरपेक्ष एक तंत्र है, जो विकास तथ परिवर्तन का विषय नहीं है। ब्रैडले के शब्दों में –''वह समस्त इतिहास का स्रष्टा है, किन्तु उसका कोई अपना इतिहास नहीं होता।'' हेगेल के दर्शन में द्वन्द्व न्याय विाकस की प्रक्रिया आवश्य है, किन्तु इस प्रक्रिया का मार्ग एवं दिशा निर्धारित है। इस प्रक्रिया की चरम परिणति चित्त है और यह चित्त सिद्धान्ततः ज्ञान का विषय है। वास्तविकता का कोई रहस्यात्मक पहलू नहीं है, जिसमें हम किर्केगार्डीय विधि से 'छलांग' लगा सकें। इसको प्राप्त करने के लिए हमें नपे–तुले पग रखने होंगे। इस प्रकार प्रत्ययवादी व्यवस्था में सब कुछ निर्धारित तथा बंधा–बंधा सा है, इसमें व्यक्तिगत अभियानों तथा स्वतंत्र चुनावों के एिल कोई स्थान नहीं दिखाई देता है।

मार्क्सवादी दर्शन, जो कि प्रत्ययवाद का विरोधी दर्शन है, में भी मनुश्य को उसके अस्तित्व के वास्तविक अर्थ से वंचित रखा गया है। मार्क्सवादी व्यवस्था को उसके अस्तित्व के वास्तविक अर्थ से वंचित रखा गया है। इस दर्शन में मनुष्य तथा वर्ग का तादात्म्य इस सीमा तक कर दिया गया है कि उसमें व्यक्ति वैशिष्ट्य का कोई स्थान ही नहीं रह जाता। मार्क्सवादी 'आर्थिक नियंत्रणवाद वस्तुतः व्यष्टिता के निषेध का सिद्धांत है। प्रत्ययवादी कहता है निरपेक्ष सत् को जान लेने के बाद मनुष्य को जानने की कोई समस्या नहीं रह जाती है। मार्क्सवादी कहता है कि आर्थिक परिस्थितियों को नियंत्रित कर लिया जाय तो,मानव जीवन की वास्तविकता को भी नियंत्रित किया जा सकता है। मूलभूत विचारों के बावजूद दोनों विचारतंत्रों में यह विस्मयकारी सहमति है कि दोनों ही व्यक्ति की सर्जनशीलता, मौलिकता, विशिष्टता तथा स्वतंत्रता का अन्तर्भाव एक सामान्य सिद्धांत के अन्तर्गत कर देते हैं। दोनों ही व्यक्ति के जीवन की वास्तविक समस्याओं, उसके एकाकीपन उसे अलगाव आदि का समाधान ऐसे सामान्य सूत्र से करना चाहते हैं, जिसमें व्यक्ति का स्थान निश्चित रूप से गौण हो जाता है यही कारण है कि सार्त्र अपने मार्क्सवादी झुकाव के बावजूद भी मार्क्सवाद की आलोचना करते हैं कि उसमें विषय एवं विषयी का भेद करके मनुष्य को विषय के रूप में ग्रहण किया गया है। यही नहीं, व्यक्ति स्वातंत्र का पक्षपाती अस्तित्ववादी दर्शन कम्युनिस्टों को नहीं भाता। उनके अनुसार यह दर्शन बुर्जुआ बुद्धिवादियों द्वारा ऐतिहासिक समाजवाद से पलायन करने तथा प्रत्ययों के तत्वमीमांसीय संसार में रहने का अन्तिम प्रयास है।

12.5 ज्याँ पाल सार्त्र का अस्तित्ववाद मानव वास्तविकता का दर्शन है :

ज्याँ पाल सार्त्र हेगल, काण्ट, मार्क्स के दर्शन की कमियों को उजागर कर यह दिखलाया कि ये सभी दर्शन मानव की निजता का, मानव की विशिष्टता, मानव की मौलिक सर्जन का उपेक्षा करते हैं; इसलिए ये सभी दर्शन मानव स्वतंत्रता और उसके अस्तित्व के विरोधी हैं। सार्त्र यह कहते हैं कि 'अस्तित्व सार पूर्वगामी है' (Existence

precedes essence) – यह कथन मानव वास्तविकता पर लागू होता है, वस्तुओं के समुदाय पर नहीं। मानव वैशिष्ट्य का, जगत से उसके अलगाव का किसी सामान्य सूत्र में अन्तर्भाव नीं किया जा सकता। सिद्धांतों के माध्यम से मानवीय वास्तविकता की व्याख्या उसके अस्तित्व का मिथ्याकरण है। ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि मानव अस्तित्व की समस्यायें सैद्धांतिक नहीं है। दर्शन का लक्ष्य मनुष्य को दार्शनिकता के प्रथम बिन्दु पर ले जाकर यह प्रश्न पूछना है कि 'मनुष्य होने का क्या अर्थ है?' इस प्रश्न का कोई वस्तुगत, वैज्ञानिक या सुनिश्चित उत्तर नहीं हो सकता। ऐसा इसलिए नीं है कि मनुष्य के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अपर्याप्त है; बल्कि इसलिए कि मनुष्य अपनी सत्ता में निरन्तर एक प्रश्न बना रहता है। मानवीय वास्तविकता के सम्बन्ध में जगत भी एक प्रश्न है, एक खुली संभावना है। दोनों ही के बारे में जितना कहा जा सकता है, वे उससे अधिक होते हैं मानवीय व्यवहार को किसी सामान्य सूत्र द्वारा सीमित अथवा नियंत्रित नहीं किया जा सकता, क्योंकि मनुष्य अपने व्यवहार द्वारा निरन्तर अपना निर्माण करता है।

12.6 दर्शन का मुख्य कार्य मनुष्य को अपने अस्तित्वगत समस्या के प्रति सचेत करना है –

अस्तित्ववादी दार्शनिक ज्याँ पाल सार्त्र का मानना है कि दर्शन का मुख्य कार्य मनुष्य को अपने अस्तित्वगत समस्या के प्रति सचेत करना है तथा उसकी वस्तुगत उत्तरों की भ्रामक खोज करने की प्रवृत्ति को रोकना है।

अस्तित्तवादी दार्शनिक ज्याँ पाल सार्त्र का कहना है कि अब तक दर्शनशास्त्र के जितने भी सिद्धांत विकसित हुए हैं, से सभी 'मनुष्य तथा जगत' की 'संरचनात्मक विच्छिन्नता' को किसी एक सूत्र द्वारा समाप्त कर देने के पक्षपाती हैं। परन्तु विच्छिन्नता को समाप्त करने का यह प्रयास मनुष्य के वास्तविक अस्तित्व के मूल्य पर ही हो सकता है, क्योंकि इस प्रकार के सभी प्रयासों में मनुष्य एक सामान्य प्रक्रिया अथवा सिद्धांत में एक कड़ी मात्र रह जाता है। इसीलिए तो मार्सल का कहना है कि–''सत्ता की समस्या सैद्धांतिक समाधान का विषय नहीं है, वह जीने तथा अनुभव करने का विषय है।''

12.8 अस्तित्ववाद विचार से परे व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बोध का दर्शन है

ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि मानव अस्तित्व विचार से परे है। यह व्यक्तिगत अभियान का विषय है। तथा इस अभियान में व्यक्ति अपनी मूलभूत स्वतंत्रता का बोध करता है। अस्तित्वगत समस्यायें विचार की समस्यायें नहीं वरन क्रिया का विषय हैं। क्रिया द्वारा ही मनुष्य इन समस्याओं का समाधान करता है। अपनी क्रियाओं द्वारा व्यक्ति एक संश्लेषण, मूर्त सामान्य, एक अन्तिम लक्ष्य पर पहुंचना चाहता है, किन्तु वह जिस अन्तिम लक्ष्य पर अपनी क्रियाओं द्वारा पहुंचना चाहता है, वह उसकी क्रियाओं का परिणाम है, पूर्व विद्यमान नहीं है। मनुष्य की क्रियाएं भविष्य का नियामक नहीं हो सकती हैं। मनुष्य का कोई भी प्रयास उसकी अन्तिम उपलब्धि नहीं हो सकती। मानवीय प्रयासों का क्षेत्र सदैव एक खुली संभावना है, एक क्षितिज के बाद दूसरा क्षितिज विद्यमान होता

है। मनुष्य अपने प्रयासों द्वारा निरन्तर नये मूल्यों एवं लक्ष्यों की खोज करता है। मानव जीवन की ऐसी कोई भी स्थिति नहीं हो सकती है जहां पहुंचकर सभी संभावनाओं की इति हो जाय। इसीलिए सार्त्र यह कहता है कि 'मनुष्य मनुष्य का भविष्य है'। यहां सार्त्र अपनी इस उक्ति द्वारा यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि मनुष्य का कर्म ही उसका स्वरूप है।

12.9 मनुष्य का कार्य ही उसका वास्तविक स्वरूप है

ज्याँ पाल सार्त्र का मानना है कि मनुष्य अपने कार्यों के द्वारा अपने स्वरूप का अपने सार का निर्धारण करता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक मनुष्य का सार उसका सर्वथा निजी होता है–इतना निजी कि दूसरे के साथ उसका कोई संपर्क या संलाप ही न हो सके। अतएव मनुष्य के स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति उसके कर्म में होती है और उसके कर्म में उसके अस्तित्व की भी अभिव्यक्ति होती है।

12.10 अस्तित्ववाद मनुष्य की व्यष्टिता का दर्शन है

अस्तित्ववाद को प्रायः व्यष्टिवादी दर्शन के रूप में ग्रहण किया जाता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इसका सामान्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। काम अपनी समस्त अतर्कबुद्धिपरता के बावजूद अपने असंगत तर्कों के लिए 'तर्कबुद्धि' का ही सहारा लेते हैं। ज्याँ पाल सार्त्र भी अपनी अतर्कबुद्धि परता तथा 'व्यष्टिवादिता' के बावजूद 'मनुष्य की एक सामान्यता' को स्वीकार करते हैं।

12.11 ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार अपने कार्यों द्वारा मनुष्य अपने तथा अन्य के सार का निर्धारण करता है।

ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि मनुष्य अपने कार्यों के द्वारा अपने सार को निर्धारित करता ही है, साथ ही अन्य का सार भी निर्धारित करता है। अपने कर्म के द्वारा व्यक्ति अपनी जो 'प्रतिमा' या 'स्वरूप' बनाता है, वह उसकी सर्वथा निजी प्रतिमा नहीं होती, वह सभ मनुष्यों की 'प्रतिमा' होती है। यह मनुष्य का महान अस्तित्वपरक उत्तरदायित्व है, इससे वह बच नहीं सकता। परन्तु मनुष्य अपनी जो प्रतिमा बनाता है, उसका प्रत्याख्यान करने में भी वह समर्थ है। मनुष्य की यह निषेधात्मक क्षमता है : वह जो कुछ है, उसने अपने को जो कुछ बनाया है उससे अलग हो सकता है। अपने द्वारा अपने लिए निर्धारित सार का वह परित्याग कर सकता है।

ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि मनुष्य की यह निषेधात्मक क्षमता उसके स्वरूप के आन्तरिक संरचना में निहित है, यह तत्वमीमांसीय निरपेक्षसत्ता नहीं है। यही कारण है कि सार्त्र के अस्तित्ववाद में मनुष्य सदैव एक प्रश्न बना रहता है। इसीलिए सार्त्र ने मनुष्य को 'अवस्तु' अथवा 'कुछ नहीं'की संज्ञा दी हैं संस्था, समाज तथा जगत

की वस्तुओं के मध्य रहते हुए भी मनुष्य अपने को उनसे अलग रखता है। इस अलगाव क्रिया के द्वारा वह अपने कार्यों, अपनी उपलब्धियों तथाअपने समक्ष उपस्थित सभी वस्तुओं के प्रति प्रश्न करता है। इसी अलगाव तथा प्रश्न करने की प्रक्रिया में व्यक्ति अपनी निजता तथा स्वतंत्रता का बोध होता है। अस्तित्ववाद मुख्यतः व्यक्ति की निजता एवं स्वतंत्रता का दर्शन हे। यह शान का नहीं क्रिया का दर्शन है। यह जीवन को सैद्धांतिक कोटियों में बांधने का नहीं, अपितु उसे जीने का दर्शन है।

12.12 ज्याँ पाल सार्त्र के अस्तित्ववाद क विरुद्ध आपत्तियां, भ्रांन्तियां और उनका निराकरण

ज्याँ पाल सार्त्र का अस्तित्ववादी दर्शन जितना लोकप्रिय है, उसके सम्बन्ध में उतनी ही भ्रांतियां भी हैं। 'बीइंग एण्ड नथिंगनेश' के प्रकाशन के दो वर्षों बाद सार्त्र को आलोचनाओं के आधी का सामना करना पड़ा। कैथालिक चर्च के दक्षिण पंथी तथा साम्यवाद के वामपंथी, दोनों ही खेमों से उसकी आलोचनाएं की गयीं। ज्याँ पाल सार्त्र की पुस्तक को 'जहर' कह कर लोगों को उनसे सावधान रहने की चेतावनी दी गयी, उसे अठारहवीं शताब्दी के बुद्धिवाद तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रत्यक्षवाद से अधिक खतरनाक घोषित किया गया। ज्याँ पाल सार्त्र के अस्तित्ववाद के विरुद्ध जो आक्षेप लगाये गये और उन आरोपों का सार्त्र ने जो निराकरण किया है, वे इस प्रकार हैं :–

ज्याँ पाल सार्त्र के अस्तित्ववाद को निराशा, कुण्ठा, विपर्यास, निष्क्रियता, अभिशाप, मनस्ताप, एकाकीपन, ऊब तथा बेहूदापन आदि जैसे मानवीय जीवन के विद्रूपताओं एवं अंधेरे पहलू को उजाकर करने वाला दर्शन कहा गया। इसे जीवन के दुःखद एवं त्रासदी के रूप में प्रस्तुत करने वाला दर्शन हानिकारक है। साम्यवादियों ने इसे 'परिकल्पनात्मक' दर्शन माना, क्योंकि यह डेकार्ट के आत्मा को दार्शनिकता का प्रारम्भ बिन्दु मानता है। चर्च ने अव्यवस्था तथा, नियमहीनता के समर्थन का आरोप लगाया। इस प्रकार की आधारहीन आलोचनाओं से झुब्ध होकर सार्त्र ने संभवतः यह कहा कि शब्द का कुछ भी नहीं अर्थ रह गया है और अपने ऊपर लगे इन विभिन्न प्रकार के आलोचनाओं का उत्तर देने के लिए उसने 'एग्जिस्टेन्शियलिज्म एण्ड ह्यूमनिज्म' नामक स्वतंत्र ग्रंथ लिखा।

12.12.2 ज्याँ पाल सार्त्र का मानना है कि अधिकांा आरोप जो उसके अस्तित्ववादी चिन्तन के सन्दर्भ में लगाये गये हैं, वह अस्तित्ववादी साहित्य में प्रयुक्त शब्दों का परिणामस्वरूप लगाये गये हैं। अस्तित्ववादी चिन्तन में जहां हाइडेगर मनुष्य के 'एकाकीपन' पर बल देते हैं वहीं सार्त्र मनुष्य के परिताप या वेदना तथा उसके अभिशप्त रूप पर। इन शब्दों का स्पष्टीकरण करते हुए ज्याँ पाल सार्त्र कहते हैं कि आलोचक इन शब्दों के वास्तविक अर्थ से अनभिज्ञ बने रहने के कारण ही इस दर्शन की आलोचना करते हैं। मनुष्य को परिताप या एकांगी कहने का अभिप्राय उसकी गरिमा या उसके महत्व कोकम करना नहीं है, अपितु मानव अस्तित्व के महत्व को अधिक शक्तिशाली रूप

में प्रस्तुत करना है।

ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार 'मनुष्य परिताप है' इस कथन का अर्थ यह है कि मनुष्य सम्पूर्ण मानवता में सक्रिय रूप से साझीदार है तथा इसी कारण उसमें गम्भीर उत्तरदायित्व की भावना है। मनुष्य अपने लिए जो चुनाव या निश्चय करता है, उसका वह चुनाव स्वयं के लिए केवल चुनाव नहीं होता है, बल्कि वह मानव समाज के लिए भी मार्गदर्शन करता है; क्योंकि नियमों मूल्यों का स्रष्टा मनुष्य स्वयं है। इसलिए मनुष्य द्वारा किया गया कोई भी चुनाव महान उत्तरदायित्व का कार्य है और इस उत्तरदायित्व को अनुभव करने वाला व्यक्ति परिताप की भावना से बच नहीं सकता।

यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि वे जो कुछ भी कर रहा है, वह उसका नितान्त अपना है, केवल उसी को वैसा करने का अधिकार है तो सार्त्र काण्ट के ढंग से यह प्रश्न उठाते हैं; यदि सभी लोग वैसे ही सोचें? तो क्या होगा? यह प्रश्न सामान्य मनुष्य के लिए निश्चय ही क्षोभ उत्पन्न करने वाला है। जो व्यक्ति इस प्रकार के संक्षोभ से इंकार करता है वह दोहरे व्यक्तित्व वाला है। वह वस्तुतः अपने संक्षोभ को छुपा रहा है। अपने निर्णय एवं व्यवहार की स्थिति में हर व्यक्ति इस विचार से ग्रस्त होता है कि जैसे समस्त मानवता की निगाहें उसके लिए संभव नहीं है। यही मनुष्य का परिताप है। यह परिताप उत्तरदायित्व की भावना से उत्पन्न है। अतएव यह मनुष्य को निष्क्रियता की ओर नहीं ले जा सकता, क्योंकि यही मनुष्य के कर्मठता की शर्त है। यह क्रिया के लिए व्यवधान नहीं, अपितु मनुष्य की क्रियाशीलता के लिए प्रेरक शक्ति है।

ज्याँ पाल सार्त्र का मानना है कि परिताप का सत्य मनुष्य के एकाकीपन से सम्बद्ध है। ज्याँ पाल सार्त्र का कहना है कि ईश्वर के अस्तित्व को नकारने के महत्वपूर्ण परिणाम होते हैं तथा उनके लिए नकारने वाला व्यक्ति ही उत्तरदायी होता है। ईश्वर विहीन जगत में मनुष्य नितान्त अकेला है, क्योंकि ईश्वर के निषेध से मानवीय कर्मों एवं मूल्यों को स्वर्गीय अथवा अलौकिक आधार की संभावना समाप्त हो जाती है। मनुष्य का कोई पूर्व निर्धारित स्वरूप नहीं रह जाता, मूल्यों का कोई शाश्वत या पूर्ववर्ती स्रोत नहीं रह जाता। ऐसी दशा में मनुष्य अपने कार्यों के लिए कोई बहाना नहीं ढूंढ सकता। वह जो कुछ करता है, उसके लिए स्वयं उत्तरदायी है। मनुष्य इसी अर्थ में सवतंत्र होने के लिए अभिशप्त है। चुनाव और निर्णय करने की स्थिति में वह नितान्त अकेला है, क्योंकि वह न तो ईश्वर का सहारा ले सकता है और न ही किसी सार्वभौम विधान का। सार्वभौम सिद्धांत अत्यंत अस्पष्ट होते हैं, अस्तित्वपरक परिस्थितियों में व्यक्ति को स्वयं अपना मार्ग चुनना पड़ता है, वह किसी से निर्देश या सहायता की अपेक्षा नहीं कर सकता।

ज्याँ पाल सार्त्र का यह भी कहना है कि अस्तित्ववाद जीवन की विद्रूपताओं एवं निष्क्रियता का दर्शन नहीं है। यह जीवन के कुत्सित रूपों को उद्घाटित कर रमणीक जीवन व्यतीत करने के लिए लोगों को सचेत करता है। इतना ही नहीं यह परिभाषा कर्म

का दर्शन हे। अस्तित्ववादी दर्श में कर्मों के अतिरिक्त अन्य कोई वास्तविकता ही नहीं होती। मनुष्य अपनी योजनाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अस्तित्ववाद का विरोध वही लोग करते हैं जो अपनी असफलताओं के लिए कोई न कोई बहाना ढूंढने के अभ्यसत हो गये हैं। वे अपनी प्रत्येक असफलता की व्याख्या मैं क्या करूं? परिस्थितियां मेरे प्रतिकूल थीं, जैसी प्रक्रियाओं द्वारा करते हैं। वस्तुतः अस्तित्ववाद अतिशय आशा का दर्शन है।

12.13 निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि ज्याँ पाल सार्त्र अपने अस्तित्ववाद में यह प्रतिपादित करते हैं कि 'होने' का अर्थ विषयी होने से है। यह विषयी जो कि एक विशेष विषयी के रूप में अपने होने का अनुभव करता है, उस विषयी का अस्तित्व ही मूलभूत सत्य है। इस विषयी का अन्तर्भाव किसी सार्वभौम सत्ता तथा अमूर्त कोटि में नहीं किया जा सकता और विषयी रूप में, व्यष्टि रूप में, मनुष्य अपने स्वरूप का निर्धारण करता है। मनुष्य का कोई प्रागनुभविक तथा 'पूर्व निर्धारित स्वरूप नहीं होता। सर्वप्रथम मनुष्य 'होता' है और तब अपने कार्यों और चुनाव द्वारा अपने सार को, स्वरूप का निर्माण स्वयं करता है, तो इसका अनिवार्य निहितार्थ यह होता है कि मनुष्य स्वतंत्र है और वह जो कुछ करता है, उसके लिए स्वयं उत्तरदायी है। जिस क्षण मनुष्य को अपने इस स्वरूप की अनुभूति होती है, उस समय उसे अपने अकेलेपन की अनुभूति होती है, क्योंकि वह समझता है कि किसी वस्तुगत कारण, किसी पूर्व निश्चित नियम अथवा किसी अन्य प्रतिमान का सहारा लेकर वह अपने कार्यों का औचित्य नहीं सिद्ध कर सकता। सोरेन किर्केगार्ड, यास्पर्स, हाईडेगर, ज्याँ पाल सार्त्र आदि सभी अस्तित्ववादी दार्शनिक अपने –अपने ढंग से मनुष्य के अकेले पन और उससे उत्पन्न होने वाले 'संताप' या 'चिन्ता' का वर्णन करते हैं। सभी अस्तित्वादी दार्शनिक इस बात को प्रमुखता प्रदान करते हैं कि इसी 'अकेलेपन की अवस्था में ही मनुष्य को अपने 'होने' की तीक्ष्ण अनुभूति होती हैं ऐसी दशा में वह अनुभव करता है कि वह एक विशिष्ट सत्ता है ओर यह भी कि वह भीड़ में सम्मिलित एक व्यक्ति मात्र नहीं है।

वस्तुतः अस्तित्ववादी दर्शन का यह एक बहुत बड़ा प्रयोजन है कि वह मनुष्य को भीड़ से निकालकर प्राकृतिक जगत से ऊपर उठाकर उस बिन्दु पर खड़ा कर दे, जहां से वह यह प्रश्न उठा सके कि मेरे यानी मनुष्य होने का अर्थ क्या है? विशेष रूप से अस्तित्ववाद के सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि 'मनुष्य होने का क्या अर्थ है' यह मनुष्य के समक्ष उत्पन्न प्रश्न कोई सम्प्रत्यात्मक समाधान ही है। यह अस्तित्वपरक जिज्ञासा है, होने की उत्कट अनुभूति है, जिसका समाधान ज्ञान नहीं, अपितु क्रिया के ही स्तर पर संभव है, वह क्रिया चाहे किर्केगार्ड की 'अस्तित्वपरक छलांग' हो चाहे यास्पर्स के अतिक्रमणता का साक्षात्कार हो, चाहेहाइडेगर, सार्त्र और पांती की प्रामाणिक जीवन जीने की चाह हो। वास्तविकता य है कि सार्त्र और पाँती की वास्तविक जीवन जीने की

चाह हो। वास्तविकता यह है कि सार्त्र अपने अस्तित्ववाद में 'अस्तित्व सार का पूर्वगामी है' के द्वारा यह स्पष्ट किए हैं कि मनुष्य स्वतंत्र है, अपने मार्ग का निर्धारक है, मूल्यों का स्रष्टा है तथा उसकी नियति उसी के नियंत्रण में है।

12.14 सारांश

ज्याँ पाल सार्त्र अस्तित्ववादी दार्शनिक हैं। जब अस्तित्ववादी चिन्तन करने वाले सभी अस्तित्ववादी दार्शनिक अपने को 'अस्तित्ववादी' कहने में संकोच कर रहे थे, उस समयसार्त्र अकेले ऐसे दार्शनिक थे जिन्होंने अपने को अस्तित्ववादी घोषित किया। ज्याँ पाल सार्त्र सभी प्राकृतिक विज्ञानों, प्रत्ययवाद, वस्तुवाद का खण्डन करते हुए अस्तित्ववाद की अधिकारिक परिभाषा करते हुए कहा कि –'अस्तित्व सार का पूर्वगामी है।' अपनी इस परिभाषा के द्वारा सार्त्र यह स्पष्ट करते हैं कि मानव अस्तित्व पूर्व निर्धारित नहीं है। सार्त्र मानव अस्तित्व के सन्दर्भ में प्रश्न उठाते हैं कि मनुष्य होने का अर्थ क्या है? सार्त्र अपने इस प्रश्न के द्वारा यह दिखाते हैं कि मानव वास्तविकता के संबंध में मनुष्य सदैव एकप्रश्न बना रहता है। दर्शन का प्रमुख कार्य मनुष्य को अपने अस्तित्वगत समस्या के प्रति सचेत करना है। सार्त्र का कहना है कि मनुष्य का प्रामाणिक अस्तित्व वास्तविक जीवन्त तनाव को जीने में है। मनुष्य का कार्य ही उसका वास्तविक स्वरूप है।

जब मनुष्य अपने स्वतंत्र का उपयोग करते हुए किसी चुनाव को करता है और अपने आत्मनिर्माण के द्वारा अपने स्वरूप को कोई रूप प्रदान करता है, तो वह अपने इस कार्य के द्वारा अन्य के सार का भी निर्धारण करता है। यद्यपि ज्याँ पाल सार्त्र के अस्तित्ववाद के विरुद्ध अनेक आक्षेप लगाये हैं और जिनका समुचित उत्तर उन्होंने 'एग्जिटेन्शियलिज्म एण्ड ह्यूमनिज्म (Existensialism and Humanism) पुस्तक को लिखकर किया है, किन्तु अपने इस पुस्तक प्रकाशन को बाद में एक भूल माना है। ज्याँ पाल सार्त्र ने 'मनुष्य परिताप है' के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि मनुष्य स्वतंत्र है और अपने स्वतंत्र चुनावों के द्वारा निरन्तर आत्मनिर्माण करता रहता है। मनुष्य का कोई पूर्व निर्धारित सार नहीं है।मनुष्य इस संसार में एकाकी है और उसके इस 'एकाकीपन' में ही उसके 'होने' की तीक्ष्ण अनुभूति होती है। इसप्रकार सार्त्र 'अस्तित्वसार का पूर्वगामी है' के द्वारा यह स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य पूर्णतः स्वतंत्र है, अपने मार्ग का निर्धारक है, मूल्यों का स्रष्टा है औरउसकी नियति उसी के नियंत्रण में है।

12.15बोध प्रश्न

1. सार्त्र के इस कथन 'अस्तित्व सार का पूर्वगामी है' का विवेचन कीजिए।
2. सार्त्र के अस्तित्ववाद के विरुद्ध क्या आक्षेप लगाये गये हैं और सार्त्र द्वारा इन अक्षेपों के दिये गये उत्तर का विवेचन कीजिए।
3. 'मनुष्य परिताप है' सार्त्र के इस कथन की व्याख्या कीजिए।

12.16 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन पाश्चात्य दर्शन : प्रो. बी.के. लाल
2. अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक : लक्ष्मी सक्सेना, सभाजीत मिश्र
3. Jean Paul Sartre - Maurice
4. ज्याँ पाल सार्त्र (मानव अस्तित्व, स्वतंत्रता एवं उत्तरदायित्व) : डॉ श्यामकान्त

इकाई –13 स्वतंत्रता एवं उत्तर दायित्व

इकाई की रूपरेखा :

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 ज्याँ पाल सार्त्र द्वारा मानव स्वतंत्रता के दो भ्रान्तियों का निराकरण

13.3 ज्याँ पाल सार्त्र द्वारा मानव के पूर्ण स्वतंत्रता का समर्थन

13.4 मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है

13.5 ज्याँ पाल सार्त्र का स्वतंत्रता से तात्पर्य

13.6 ज्याँ पाल सार्त्र के दर्शन में 'अवस्तुत्व' स्वतंत्रता के रूप में

13.7 ज्याँ पाल सार्त्र द्वारा मानव स्वतंत्रता की दुश्चिन्ता के रूप में विश्लेषण

13.8 ज्याँ पाल सार्त्र द्वारा मनुष्य की परिभाषा

13.9 ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार स्वतंत्रता मानव अस्तित्व का पर्यायवाची है

13.10 मनुष्य के चुनाव के पूर्व कोई मूल्य नहीं होते हैं

13.11 ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार निर्बाध स्वतंत्रता अर्थहीन प्रत्यय है

13.12 ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार मानवीय स्वतंत्रता वांछित इच्छाओं की पूर्ति नहीं है

13.13 ज्याँ पाल सार्त्र के अस्तित्ववाद का मूल प्रयोजन मनुष्य के मूल संरचना का विश्लेषण करना है

13.14 ज्याँ पाल सार्त्र का मानव स्वातंत्र का सिद्धांत उसकी मानव चेतना सम्बन्धी विशिष्ट धारणा का परिणाम है।

13.15 ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार मानव स्वतंत्रता की अनुभूति में उत्तरदायित्व का भाव है

13.16 ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार उत्तरदायित्व का भाव 'स्वयं' के प्रति भी है तथा 'अन्य' के प्रति भी है

13.17 स्वतंत्रता का महत्वपूर्ण परिणाम उत्तरदायित्व है

13.18 निष्कर्ष

13.19 सारांश

13.20 बोध प्रश्न

13.21 उपयोगी पुस्तकें

13.0 उद्देश्य

- ज्याँ पाल सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन में मानव स्वतंत्रता उसके अस्तित्व का पर्याय है। सार्त्र यह मानता है कि स्वतंत्रता ही मनुष्य है। इसे स्पष्ट किया गया है।
- मानव स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति दुश्चिन्ता में होती है।
- ''मनुष्य जो है वह नहीं है और जो नहीं है, वह है'' सार्त्र की इस उक्ति को मानव अस्तित्व के सन्दर्भ में स्पष्ट किया गया है।
- ज्याँ पाल सार्त्र के मानव स्वतंत्रता के साथ उत्तरदायित्व का सम्प्रत्यय भी अनिवार्यतः सम्बद्ध है, जिसे मानवीय सन्दर्भ में स्पष्ट करने का प्रयास किया जायेगा।

13.1 प्रस्तावना

ज्याँ पाल सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन में स्वतंत्रता एवं उत्तरदायित्व की अवधारणा का केन्द्रीय महत्व है। प्रायः सभी अस्तित्ववादी यह स्वीकार करते हैं कि 'मनुष्य मूलतः स्वतंत्र है, किन्तु मनुष्य की यह स्वतंत्रता प्रागनुभविक रूप से प्रदत्त नहीं है। अस्तित्ववादी दार्शनिक ज्याँ पाल सार्त्र का यह स्पष्ट अभिमत है कि मनुष्य के स्वतंत्रता का कोई निरपेक्ष या अन्तिम रूप नहीं है, वह अपने चुनावों के द्वारा अपनी स्वतंत्रता का प्रतिपादन करता है, अपनी प्रामाणिक सत्ता को स्थापित करने की चेष्टा करता है। अस्तित्ववादी ज्याँ पाल सार्त्र मनुष्य के निरपेक्ष स्वतंत्रता के समर्थक हैं। उनका यह मानना है कि मनुष्य की स्वतंत्रता उसकी शून्यकारी चेतना के माध्यम से उत्पन्न होती है।

ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि अपनी शून्यता की निषेधात्मकता के नाते चेतना एक झटके से वस्तु से सम्बन्ध विच्छेद कर लेती है। चेतना वस्तुत्व में रिक्तता के रूप में उत्पन्न होती है और उसी के साथ अपनी स्वतंत्रता का साक्षात्कार करती है। इस प्रकार सार्त्र का यह मानना है कि मानव स्वतंत्रता से तात्पर्य चुनाव करने की स्वतंत्रता है और मनुष्य अपने कार्य या चुनाव शून्य से प्रारम्भ करता है। ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि मानव अस्तित्व की अनुभूति का अर्थ है– मानव के मौलिक स्वतंत्रता की अनुभूति। सार्त्र का यह स्पष्ट अभिमत है कि मानव स्वातंत्र मनुष्य के सारतत्व का पूर्वगामी है, मानव स्वातंत्रय ही मनुष्य को उसका सारतत्व प्रदान करता है। वास्तव में मनुष्य ओर उसकी स्वतंत्रता में कोई भेद नहीं किया जा सकता। ऐसा नहीं है कि मनुष्य पहले होता है और बाद में वह स्वतंत्र होता है। 'मनुष्य होने' और 'स्वतंत्र होने' में कोई भेद नहीं है।

13.2 ज्याँ पाल सार्त्र द्वारा मानव स्वतंत्रता के दो भ्रान्तियों का निराकरण

मनुष्य की स्वतंत्रता के प्रबल समर्थक ज्यां पाल सार्त्र मानव की स्वतंत्रता सम्बन्धित दो भ्रांन्तियों का सर्वप्रथम निराकरण करते हैं। मानव स्वतंत्रता से सम्बन्धित ये दो भ्रांतियां निम्नलिखित हैं–

13.2.1 (i) प्रथम भ्रांति निर्धारणवाद की है। निर्धारणवाद के दो रूप हैं– एक तो यह कि मानव की सत्ता उसके चुनाव ओर क्रिया–कलाप, उसकी इच्छाएं तथा उसकी योजनाएं इत्यादि। भौतिक कारणों द्वारा निर्धारित हैं। यह विचार स्पष्टतः भ्रामक है, क्योंकि वह मनुष्य की सत्ता को एक वस्तु की सत्ता के रूप में परिकल्पित करता है। दूसरा रूप यह है कि मनुष्य की सत्ता एवं उसका चुनाव नियति पर आधारित है। नियतिवाद यह मानता है, जो कुछ मनुष्य करता है, वह ईश्वरीय इच्छाा से प्रेरित होता है।

13.2.1(ii) ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि मानवीय स्वतंत्रता के सम्बन्ध में दूसरी भ्रांति यह है कि मनुष्य शुद्ध चेतना होने के कारण शाश्वत रूप में स्वतंत्र है। स्वतंत्रता की यह अवधारणा प्रत्ययात्मक अवधारणा है, जिसके अनुसार मनुष्य की स्वतंत्रता की यह अवधारणा एक प्रत्ययात्मक अवधारणा है, जिसके अनुसार मनुष्य की स्वतंत्रता वस्तु जगत से पूर्ण सम्बन्ध–विच्छेद और शुद्ध परिकल्पनात्मक या विचारात्मक व्यवस्था है।

ज्याँ पाल सार्त्र का मानना है कि निर्धारण वाद में प्रथम प्रकार की स्वतंत्रता में मानव स्वतंत्रता जब भौतिक कारणों से निर्धारित माना जाता है, तो यहां मनुष्य की स्वतंत्रता हा ही पूर्णतया निषेध कर दिया जाता है। मनुष्य की दूसरे प्रकार की स्वतंत्रता में भी स्वतंत्रता का मिथ्याकरण या अमूर्तीकरण कर दिया गया है।

13.3 ज्याँ पाल सार्त्र द्वारा मानव के पूर्ण स्वतंत्रता का समर्थन

ज्याँ पाल सार्त्र मानव के पूर्ण स्वातंत्र में विश्वास करते हैं। उनका या मानना है कि अपनीपूर्ण स्वतंत्रता को अस्वीकार करके अपने व्यवहार के अन्य कारणों की खोज करने वाला व्यक्ति ईमानदार नहीं हे। अपनी अतीत की वास्तविकता तथा भविष्य के उत्तरदायित्व को न स्वीकार करना अपने मानवीय अस्तित्व के प्रति 'बेईमानी' है। इस 'बेईमानी' के दो रूप हो सकते हैं, जिसे निम्नलिखित दृष्टांत द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है– ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि 'श्री अ'झूठ बोलते हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि वे झूठे हैं, किन्तु यह तर्क देते हें कि वे अपने स्वभाव से तो पूर्ण ईमानरार हैं, उनका झूठ बोलना किसी बाहरी संयोग अथवा बाहरी परिस्थितियों द्वारा नियंत्रित है। उनका आन्तरिक आत्मा झूठ बोलने के लिए उत्तरदायी नहीं है। 'श्री ब' भी झूठ बोलते

हैं और 'अ' की तरह यह मानते हैं कि 'झूठे' हैं। परन्तु 'अ' के विपरीत वे अपने वाह्य एवं आन्तरिक आत्मा में भेद नहीं करते। वे अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को पूर्णतया नियंत्रित मानते हैं। ईश्वर ने जो उन्हें बनाया है, वे वही हैं।

सार्त्र का मानना है कि 'अ' के व्यवहार में 'बईमानी' है, क्योंकि वह अपनी वस्तुस्थिति को अस्वीकार करता है। 'ब' का व्यवहार भी 'दुरावस्थापूर्ण है, क्योंकि वह यह मानता है कि 'वह जो है, वही है।' इस प्रकार 'अ' और 'ब' दोनों ही मानवीय अस्तित्व की संभावनाओं को अस्वीकार करता है। दोनों के ही दृष्टिकोण 'पूर्ण निर्धारणवाद' पर आधारित है। 'अ' के व्यवहार में मानव स्वातंत्र एवं अस्तित्व की संभावनाओं की स्वीकृति है, किन्तु अस्तित्व की वस्तुस्थिति एवं उत्तरदायित्व की अस्वीकृति है। 'ब' के व्यवहार में वस्तुस्थिति की स्वीकृति है, किन्तु मानव स्वातंत्र एवं उत्तरदायित्व की अस्वीकृति है।

ज्याँ पाल सार्त्र पूर्णनिर्धारणवाद के विपरीत मानव के पूर्ण स्वातंत्रता एवं पूर्ण उत्तरदायित्व के समर्थक हैं। ज्याँ पाल सार्त्र का पूर्ण स्वातंत्र से अभिप्राय निम्नलिखित प्रकार की स्वतंत्रता से है –

(i) वासनाओं तथा प्रवृत्तियों से स्वतंत्रता एवं

(ii) अभिप्रेरकों से स्वतंत्रता

(iii) 'निज–में–वस्तु' से स्वतंत्रता, 'निज–में–वस्तु' (अचेतन सत्ता) चेतना सत्ता का स्पर्श नहीं कर सकती। वह चेतन वस्तु द्वारा निर्धारित नहीं होती।

(iv) सारतत्व से स्वतंत्रता। मनुष्य का अस्तित्व उसके सार का पूर्वगामी होता है। मनुष्य जैसा अपने को बनाता है, वैसा ही होता है।

(v) मनुष्य पूर्व निर्धारित मूल्यों से स्वतंत्र है। वह स्वयं मूल्यों का सृष्टिकर्ता है।

13.4 मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है

ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि मानव अस्तित्व के प्रथम अनुभूति में ही उसे अपने एकाकीपन की भी अनुभूति होती है। मानव अपने एकाकीपन की अनुभूति में अपने को एक स्थिति में वस्तुओं तथा अन्य से घिरा पाता है तथा साथ ही साथ उसे यह भी अवबोध होता है कि ईश्वर के समान कोई सहारा नहीं है, जिससे वह सहायता की अपेक्षा कर सके। अतः वह क्या बनेगा, किस दिशा में उसका अस्तित्व प्रवाहित होगा, यह सब उसी के निर्णय पर निर्भर करता है।

यही मानव स्वतंत्रता की प्राथमिक अनुभूति है। मनुष्य अकस्मात् अपने को ऐसी स्थिति में पाता है, जहां उसे अपने मौलिक स्वतंत्रता की अनुभूति होती है। मानव की यह

परिस्थिति या यह अनुभूति उसके कारण नहीं है, वह इस प्रकार की परिस्थिति में फेंका हुआ है, वह अचानक अपने को इस प्रकार के परिस्थिति में पाता है, जहाँ उसे स्पष्ट रूप से यह अवगति होती है कि अब सब कुछ उसी पर निर्भर है। मानव की इस प्रकार की परिस्थिति का सुन्दर विवरण प्रस्तुत करते हुए सात्र कहते हैं कि –''मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है।''

'मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है' इस कथन के द्वारा सार्त्र मानव स्वतंत्रता का वर्णन करते हैं। यहां सार्त्र मानव स्वतंत्रता को 'चुनाव' के अर्थ में परिभाषित करते हैं। यहां सार्त्र यह बताते हैं कि मनुष्य को चुनाव तो करना ही है। ऐसा नहीं हो सकता कि वहचुनाव करे ही नहीं। वह किसी निश्चित चुनाव को टाल सकता है। उसके द्वारा यह चुनाव का टालनाभी एकप्रकार का चुनाव है। वह नहीं कर सकता, तो इतना ही कि वह किसी प्रकार चुनाव न करे। यह उसके द्वारा चुनाव न करना भी एक प्रकार का चुनाव ही है। यही मानव स्वतंत्रता की अभिशप्तता है, उसकी विवशता है और उसकी मजबूरी है।

13.5 ज्याँ पाल सार्त्र का स्वतंत्रता से तात्पर्य

ज्याँ पाल सार्त्र का मानव स्वतंत्रता से तात्पर्य 'चुनाव की स्वतंत्रता' या 'निर्णय की स्वतंत्रता' से है। ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि मानव स्वतंत्रता उसकी चेतना में कुछ नहीं' के रूप में अन्तर्निहित है। मानव की कुछ नहीं की चेतना, चेतना की वह निषेधता है, जिसके द्वारा ही मानव चेतना संरचित है। मानव में चेतना में अन्तर्निहित यह निषेधता या अवस्तुत्व उसके अस्तित्व में निहित संभावनाएं हैं, जो 'आत्म–अस्तित्व' की अनुभूति कराता है। यद्यपि यह आत्म चेतना आत्मानुभूति की चेतना है, किन्तु यह 'आत्म' रूपी चेतना अभी अपने में निहित पूर्ण संभावनाओं को व्यक्त करता हुआ अनुभूत नहीं हो रहा है।

ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि वस्तुतः मानव स्वतंत्रता अवस्तुत्व के रूप में मानवीय अनुभव का विषय है, वह न तो अमूर्त आकर्षण है, और न परा जागतिक अवस्तुत्व। ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार अवस्तुत्व चेतना की क्रिया है। 'स्वयं में वस्तु' अवस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकती। यह उसके स्वभाव के विपरीत है। शुद्ध सत्ता जो कि मात्र है, के साथ किसी क्रिया या वस्तु का कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता। अवस्तुत्व सवयं अपना निषेध नहीं कर सकती। यह निषिद्ध होती है। अवस्तुत्व होती नहीं, वह बनायी जाती है। अतएव अवस्तुत्व का आविर्भाव ऐसी सत्ता (निज में सत् नहीं है) से होता है, जो अपनी सत्ता में निरन्तर अवस्तुत्व को धारण किए होती है। यह सत्ता चेतना है। चेतना ही ऐसी सत्ता है, जो अवस्तुत्व का स्रोत होने के साथ अपना भी अवस्तुत्व स्थापित करती है।

ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि मानव चेतना या मानवीय वास्तविकता का

ही यह विशिष्ट गुण है कि वस्तुओं से अपने को अलग कर सकती है। मानव चेतना वास्तविक जगत से बंधी नहीं होती है। मनुष्य की आशाएं, संभावनाएं, इच्छाएं इत्यादि इस बात की पुष्टि करती हैं कि मनुष्य की चेतना वास्तविक जगत से अलग होकर संभाव्य जगत की कल्पना कर सकती है। यदि मनुष्य जगत में केवल निष्क्रिय द्रष्टा होता, तो वह वास्तविकता से बंधा और वस्तु जगत में विलीन रहता तथा संभाव्य की, आदर्श की, योजना की कोई कल्पना नहीं कर पाता। इन सब की योजना इस बात पर निर्भर करती है कि मनुष्य वास्तविक जगत का निषेध कर सके। यहां सार्त्र के चेतना का सिद्धांत काण्ट के आत्मा के अत्यंत निकट पहुंच जाता है। काण्ट के दोहरी कारणता का सिद्धांत मनुष्य की इस क्षमता को सूचित करता है कि वह प्रत्यय जगत से स्वतंत्र होकर आदर्श जगत की कल्पना और निर्माण कर सकता है। ज्याँ पाल सार्त्र का अवस्तुत्व या निषेधात्मक भाव का सिद्धांत वस्तुतः मानवीय स्वातंत्र का ही सिद्धांत है।

ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार वस्तुतः मानवीय स्वातंत्र का ही सिद्धांत है। ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार मानव चेतना, आत्मा अथवा मनुष्य जगत की वस्तुओं की भांति कोई वस्तु नहीं है। यह वह वस्तु होता, तो प्रकृत जगत की घटनाओं की भांति नियंत्रित होता। यदि चेतना कारणता की श्रृंखला में आबद्ध होती, तो वह संभावनाओं की कल्पना नहीं कर पाती। अवस्तुत्व की अनुभूतियां भी इस बात की द्योतक हैं कि चेतना का कारण जगत से परे है। मनुष्य के नाते ही इस जगत में अवस्तुत्व का आविर्भाव होता है। मनुष्य की यह विशिष्ट क्षमता उसकी स्वतंत्रता से प्रादुर्भूत होती है।

13.6 ज्याँ पाल सार्त्र के दर्शन में 'अवस्तुत्व' स्वतंत्रता के रूप में

ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार 'अवस्तुत्व के रूप में मानव स्वतंत्रता मनुष्य में अन्तर्निहित उन संभावनाओं की चेतना है, जो संभावनाएं अभी वास्तविक नहीं हुई हैं। यह मनुष्य के अस्तित्व में निहित एक प्रकार का निषेध है। सार्त्र का कहना है कि मानव चेतना का यह निषेध ही उसे भविष्य की योजनाओं को बनाने के लिए प्रेरित करता है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने आत्म निर्माण को करता है। इसीलिए सार्त्र का कहना है कि मनुष्य सदा भविष्य में जीता है, क्योंकि हर क्षण वह निर्णय लेता है, कुछ योजना बनाता है, जो भविष्य से सम्बन्धित है। यही कारण है कि सार्त्र कहते हैं कि मनुष्य तथा उसके लक्ष्य के बीच शून्यता या अवस्तुत्व या निषेध या अभाव की अनुभूति है और यह अनुभूति मनुष्य एवं जगत के बीच वह माध्यम है जिनके द्वारा मानव अपने जीवन में सार्थकता प्रदान करता है।

13.7 ज्याँ पाल सार्त्र द्वारा मानव स्वतंत्रता की दुश्चिन्ता के रूप में विश्लेषण

ज्याँपाल सार्त्र मानव स्वातंत्र का विस्तृत विश्लेषण व्याख्या 'दुश्चिन्ता' के विश्लेषण

में द्वारा करते हैं। सार्त्र का मानना है कि 'दुश्चिन्ता' की अवस्था में मनुष्य को अपनी स्वतंत्रता की स्पष्ट चेतना होती है। इस अवस्था में हमें अपने उत्तरदायित्व का बोध होता है। यह विचार कि मैं अपने व्यवहार, अपने मूल्यों के प्रति उत्तरदायी हूं, मेरे मन में चिन्ता या परिताप उत्पन्न करता है। सार्त्र सोरेन किर्केगार्ड द्वारा चिन्ता की इस परिभाषा को स्वीकार करते हैं कि 'स्वतंत्रता के सम्मुख चिन्ता होती है'। व्यक्ति अपने कार्यों के लिए स्वतः उत्तरदायी है। उसका निर्धारण कहीं अन्यत्र से नहीं होता। यही नहीं, मनुष्य अपने निश्चय और चुनाव को परिवर्तित भी कर सकता है।

वर्तमान समय में लिया गया निश्चय भविष्य के लिए अनिवार्य नहीं है। सार्त्र का मानना है कि वर्तमान में लिया गया मनुष्य का कोई भी निश्चय उसे दुश्चिन्ता से मुक्त नहीं कर सकता, क्योंकि इस बात का काई आश्वासन नहीं है कि दूसरे क्षण उसका निर्णय बदल जाएगा। मनुष्य में इस प्रकार की संभावनाएं ही चिन्ता को जन्म देती हैं। सार्त्र का यह मानना है कि चिन्ता भय की अवस्था नहीं है, क्योंकि 'भय' हमें किसी निश्चित वस्तु या घटना से 'भय' लगता है, किन्तु चिन्ता की अवस्था में चिन्ता का कारण कोई वस्तु नहीं होती, यह अवस्तु के समक्ष चिन्ता होती है।

ज्याँ पाल सार्त्र का कहना है कि 'यह कुछ नहीं' के समक्ष दुश्चिन्ता की अनुभूतियां हमारे सामान्य दैनिक जीवन की अनुभूति नहीं है। इसकी अनुभूति मनुष्य को विरले क्षणों में होती है, मानवीय वास्तविकता की अनिवार्य नियति है। मनुष्य के स्वतंत्रता की चेतना उन सारे बन्धनों और समस्त रक्षा पंक्ति को तोड़कर रख देती है, जिनका उपयोग वह निर्णय लेने, योजना बनाने अथवा उसके औचित्य स्थापना के लिए कर देता है। अपनी योजनाओं के निर्माणार्थ एवं रक्षार्थ व्यक्ति नितान्त एकाकी है, उसके सामने कोई बहाना नहीं होता, कोई सहारा नहीं होता।

ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि चिन्ता से उत्पन्न मानसिक क्लेश से मुक्त होने के लिए मनुष्य मनुष्य चिन्ता को दूर भागना चाहता है तथा अपने कार्यों, निर्णयों एवं चुनावों के लिए बहानों की तलाश करता है, जिससे वह यह दिखा सके उसने जो कुछ किया, अन्य कारणों से किया, न कि स्वेच्छा से किया। वह अपनी स्वतंत्रता एवं उत्तर दायित्व को सीमित करने वाले कारणों की खोज करता रहता है। उसके द्वारा अपने बचाव में खोजे जाने वाले कारण एक प्रकार से 'रक्षा प्रविधि' है।

13.8 ज्याँ पाल सार्त्र द्वारा मनुष्य की परिभाषा

ज्याँ पाल सार्त्र की मौलिक स्वतंत्रता के आधार पर ही मनुष्य को भी परिभाषित करने का प्रयास करते हैं। वे मनुष्य की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि, ''मनुष्य जो है, वह नहीं है तथा जो नहीं है, वह है।'' ज्याँ पाल सार्त्र द्वारा मनुष्य की दी गयी परिभाषा के प्रथमार्द्ध का अर्थ यह है कि सत्तावान होने की अवस्था में अपने अतीत को अपने

विचार का विषय बनाता हूं, उसका परीक्षण करता हूं। इसका अर्थ यह हुआ कि अपने अतीत के सन्दर्भ में मैं विषयों का द्रष्टा हूं तथा अतीत मेरा विषय है अर्थात मैं अतीत का अतिक्रमण करता हूं, उसकी ''मैं नहीं'' के रूप में स्थापना करता हूं। अपना अतीत होते हुए भी मैं अपना अतीत 'नहीं होता'।

परिभाषा के द्वितीयार्द्ध का सम्बन्ध मेरे भविष्य से है। मैं अपना भविष्य हूं भी और नहीं भी हूं। मैं अपना भविष्य हूं क्योंकि वह मेरा है, मेरे द्वारा निर्मित है, किन्तु 'होने के प्रकार' के रूप में मैं अपना भविष्य नहीं हूं, मुझे अभी होना है। इस प्रकार मैं अपना अतीत हूं और नहीं भी, अपना भविष्य हूं भी और नहीं भी। मेरे वर्तमान तथा अतीत एवं वर्तमान ओर भविष्य के बीच 'कुछ नहीं' खड़ा है। इनको विभाजित करने वाली रेखा 'वस्तु' नहीं अपितु 'अवस्तु' है। मेरा अतीत 'स्वयं–में–वस्तु' है, मेरे वर्तमान की सहमति के बिना वह उसे प्रभावित नहीं कर सकता, मेरे वर्तमान को प्रभावित करने में असमर्थ है।

ज्याँ पाल सार्त्र के अस्तित्ववादी चिन्तन में मानव स्वतंत्रता का सत्ता मीमांसीय प्रश्न से सम्बन्धित है। सत्ता मीमांसीय प्रश्न त्रिविध निषेध या अभाव का उद्घाटन करता है–

(i) प्रश्न अज्ञान – अज्ञान का एक प्रकार अभाव है।

(ii) निषेधात्मक उत्तर की संभावना – प्रत्याशित वस्तु या व्यवहार का अभाव एवं

(iii) सत्य की संभावना – सत्य किसी वस्तु के बारे में सत्य होता है, इसलिए यह स्वयं अवस्तु या अभाव होता है।

सार्त्र उपर्युक्त त्रिविध निषेघों का उल्लेख करके यह सवाल उठाते हैं कि इन त्रिविध निषेधों का कारण क्या है? सार्त्र का यह कहना है कि निषेध करने के लिए एक क्षमता की आवश्यकता होती है। मात्र 'अवस्तु' में यह क्षमता नहीं हो सकती, सत्ता स्वयं अपना निषेध कर नहीं सकती। अतएव निषेध की यह समस्या एक असमंजस की स्थिति उत्पन्न करती है। वस्तु स्वरूपतः किसी प्रकार की क्रिया या संम्बन्ध में प्रवेश नहीं कर सकती, अवस्तु अपने में एक अक्षम प्रत्यय है। अवस्तु एक तृतीय सिद्धांत अथवा तत्व की अपेक्षा है, जो अवस्तुत्व का आविर्भाव कर सके। इस सिद्धांत की आन्तरिक संरचना में अवस्तुत्व अनुप्रविष्ट होना चाहिए, उसे स्वयं अपना अवस्तुत्व होना चाहिए। यह सत्ता का सिद्धांत चेतना है, मानवीय वास्तविकता है।

13.9 ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार स्वतंत्रता मानव अस्तित्व का पर्यायवाची है

अस्तित्ववादी दार्शनिक ज्याँ पाल सार्त्र मनुष्य के विषय में यह प्रश्न उठाते हैं कि 'मनुष्य क्या होना चाहिए?' जिससे कि उसके माध्यम से अवस्तुत्व का आविर्भाव हो सके। सार्त्र का उत्तर है, उसे स्वतंत्र होना चाहिए। उसके अनुसार स्वतंत्रता मानवीय

वास्तविकता का पर्यायवाची है। मनुष्य पूर्णतया तथा शाश्वत रूप में स्वतंत्र है। ''मनुष्य अथवा चेतना 'अवस्तु' है, सत्ता का अभाव है, सत्ता में छिद्र है।'' उसका स्वरूप उसकी स्वतंत्रता का परिचायक है। सार्त्र का मानव स्वातंत्र का सिद्धांत इस अस्तित्ववादी धारणा की सम्पुष्टि करता है कि मनुष्य का कोई स्वरूप या सारतत्व नहीं होता है। मनुष्य स्वयं अपना निर्णय करता है। वह अपने मूल्यों की स्वयं रचना करता है। ''मूल्यों का आविर्भाव मानवीय वास्तविकता के साथ होता है।

मनुष्य का चुनाव ही मूल्यों को निर्धारित करता है, उसमें चुनाव के पहले कोई मूल्य नहीं होते। ऐसा कहा जा सकता है कि बुद्धिवादी दार्शनिक भी मनुश्य को इसी भांति स्वतंत्र मानते हैं, क्योंकि उनका भी यह मानना है कि मनुष्य स्वयं अपने लिए मूल्यों का विधान करता है, उदाहरणार्थ काण्ट का निरपेक्ष आदेश व्यक्ति की ही बुद्धि का आदेश है। काण्ट के अनुसार मनुष्य जिन नियमों से बंधा है, वे उसी के द्वारा निर्मित है। उसका यह स्पष्ट अभिमत है कि आप उसी सिद्धांत के अनुसार आचरण करें, जिसे आप अपनी ही स्वतंत्र इच्छा से उत्पन्न मान सकें। काण्ट का यह सिद्धांत इसी मानवीय स्वातंन्त्र्य का प्रतिपादन करता है। परन्तु काण्ट के अनुसार बुद्धि का यह नैतिक सिद्धांत पूर्ववर्ती होता है तथा उसका तार्किक औचित्य भी स्थापित किया जा सकता है और सार्त्र किसी भी प्रकार की पूर्ववर्ती तथा तार्किक औचित्य का विरोध करते हैं। उनके अनुसार मानवीय चुनावों का कोई तार्किक औचित्य नहीं होता। वे एक अर्थ में असंगत या निरर्थक होते हैं, क्योंकि उनके किये जाने का कोई तर्कसंगत कारण दिखायी नहीं देता। वास्तविकता यह है कि मनुष्य की स्वतंत्रता का न कोई सामान्य गुण है और न ही वह प्रदत्त है। उसका आविर्भाव चुनाव की अवस्था में ही होता है, वह चुनाव के पहले नहीं होती।

13.10 मनुष्य के चुनाव के पूर्व कोई मूल्य नहीं होते हैं

ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि मनुष्य के चुनाव के पूर्व किसी मूल्य का कोई अर्थ नहीं है। मनुष्य का अपना चुनाव ही मूल्यों को परिभाषित करता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य की स्वतंत्रता की कोई सीमा नहीं है, उसमें कोई बाधा नहीं है। सार्त्र यह स्वीकार करते हैं कि ऐसी अनेक बाते हैं, जिनसे मनुष्य की स्वतंत्रता परिसीमित है, इन बातों को वे तथ्यता कहते हैं। तथ्यता के अन्तर्गत पांच प्रकार के तथ्य आते हैं, जो स्वतंत्रता के लिए बाधक हैं। यह पांच तथ्य (1) मेरा स्थान (2) मेरा अतीत (3) मेरा परिवेश (4) मेरा सहयोगी बन्धु एवं (5) मेरी मृत्यु। ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि तथ्यता के अन्तर्गत ये जो पांच तथ्य हैं ये ऐसे तथ्य हैं जिन पर मनुष्य का कोई वश नहीं है। ये पांच तथ्य मानव जीवन में यथार्थ हैं, जो मनुष्य की स्वतंत्रता को सीमित करते हैं।

13.11 ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार निर्बाध स्वतंत्रता अर्थहीन प्रत्यय है

ज्याँ पाल सार्त्र मानव के निर्बाध स्वतंत्रता के प्रत्यय के समर्थक नहीं हैं। उनका यह मानना है कि निबाध स्वतंत्रता अर्थहीन प्रत्यय है। सार्त्र के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ है चुनाव। चुनाव का अर्थ है –इच्छा और वास्तविकता, संकल्प एवं उपलब्धि में भेद। स्वतंत्रता का अर्थ चुनाव एवं संकल्प की स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता के बाधक तत्व मनुष्य की स्वतंत्रता के प्रमाण हैं। वस्तुतः मनुष्य की स्वतंत्रता ही उसकी स्वतंत्रता की सीमाओं एवं बाधाओं को अर्थ देती है।

बाधा किसी के लिए भी बाधा होती है। बाधा इसलिए भी बाधा होती है, क्योंकि हमने ऐसा कुछ करने का निर्णय लिया है, जिस हम नहीं कर सकते। बाधा की सार्थकता चुनाव के सन्दर्भ में है, वह चुनाव के पहले नहीं होती, बल्कि उसका प्रादुर्भाव चुनाव के बाद होता है, उदाहरण के लिए हमारे मार्ग का पर्वत हमारे लिए एक बाधा है। यह बाधा मानवीय स्थिति की, मानव के तथ्यता की सूचक है। हम सदा किसी न किसी स्थिति में होते हैं और हमारा चुनाव उस स्थिति के द्वारापरिसीमित हेाता है, किन्तु उसके भीतर हम अपने चुनाव में स्वतंत्र होते हैं। पर्वत के रूप में बाधा हमारे लिए यहे निर्णय लेने का अवसर उपस्थित करती है कि हम आगे बढ़ने से रुक जाएंगे अथवा नये मार्गों की खोज करेंगे। इस प्रकार मनुष्य की स्वतंत्रता ही बाधाओं का भी चुनाव करती है। स्वतंत्रता किसी 'स्थिति' के भीतर होती है, किन्तु उस स्थिति के भीतर वह निरपेक्ष होती है। सार्त्र ने अपनी एक रचना में यह दिखाया है कि 'ब्लड आफ अदर्स' की नायिका अन्त में इसी तथ्य स्वीकार करती है। वह ब्लोमार्ट से कहती है कि अपनी स्वतंत्र इच्छा से उसका तथा उसकी पार्टी का वरण किा और ब्लोमार्ट भी अपने उत्तर द्वारा इसी पुष्टि करता है।

13.12 ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार मानवीय स्वतंत्रता वांछित इच्छाओं की पूर्ति नहीं है

सार्त्र के अनुसार मनुष्य की स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं है कि वह अपनी स्थूल भौतिक परिस्थिति को परिवर्तित कर सकता है अथवा अपनी सभी वांछित इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है। चुनाव की स्वतंत्रता उपलब्धि की स्वतंत्रता नहीं है। उपलब्धि भौतिक परिस्थितियों द्वारा परिसीमित होती हे। हर परिस्थिति में चुनाव स्वातंत्र का रूप एक सा नहीं होता है, उदाहरण के लिए फौज की सेवा में भर्ती होने के पहले मैं उसमें जाने या न जाने के लिए पूर्णतया स्वतंत्र हूँ, किन्तु भर्ती हो जाने के बाद मेरी स्वतंत्रता का रूप बदल जाता है। जब मेरे सामने यह विकल्प नहीं रहता कि मैं चाहूं तो जाऊँ चाहूं तो न जाऊँ। मैं अब नई परिस्थिति में हूं और मेरी स्वतंत्रता इसी नयी परिस्थिति द्वारा सीमित है। मुझे ऐसी परिस्थिति के भीतर निर्णय लेना होगा, यद्यपि स्वतः परिस्थिति मुझे कोई निर्णय लेने के लिए बाध्य नहीं कर सकती।

इस प्रकार सार्त्र यह स्पष्ट करते हैं मनुष्य का चुनाव उसक मौलिक स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति है। कोई भी मनुष्य जिस वातावरण या परिस्थति में अपने को पाता है, वहां परिस्थिति या वातावरण की ओर से स्वतंत्रता के मार्ग में अवरोध उत्पन्न हो सकता है, किन्तु स्वतंत्रता में निहित यह शक्ति है कि वह अपना दिशा निर्देश स्वयं कर लेता है। इसीलिए सार्त्र कहता है कि 'स्वतंत्रता एक सतत प्रवाह है, यह एक अनन्त प्यास है जो हर निश्चय के साथ नये–नये यप में मुखरित होती है। यदि यह प्रवाह रुक जाय तो चेतन अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। यह मौलिक स्वतंत्रता ही मनुष्य की विशिष्टता है जो इसे 'निज–में–सत अर्थात अचेतन वस्तु से भिन्न बनाती है।

13.13 ज्याँ पाल सार्त्र के अस्तित्ववाद का मूल प्रयोजन मनुष्य के मूल संरचना का विश्लेषण करना है

ज्याँ पाल सार्त्र के अस्तित्ववादी चिन्तन का मुख्य प्रयोजन मनुष्य को जगत में साझीदार बनाकर उसकी अनुभूति कराना है। इसीलिए वह अपने अस्तित्ववादी दर्शन का प्रमुख उद्देश्य मनुष्य के अस्तित्व की मूल संरचना का विश्लेषण करना तथा मूलतः उसके स्वतंत्र अस्तित्व का बोध कराना है। सार्त्र का कहना है कि विचार अस्तित्व की संभावनाओं को अपने चिन्तन द्वारा परिसमाप्त नहीं कर सकता। मानव अस्तित्व विचार से परे है, व्यक्तिगत अभियान का विषय है तथा इस अभियान में व्यक्ति अपनी मूल स्वतंत्रता को बोध करता है। मानव की अस्तित्वगत समस्याएं विचार की समस्याएं नहीं हैं, वरन क्रिया का विषय हैं क्रिया द्वारा ही मनुश्य इन समस्याओं का सामना करता है, उनको रूपान्तरित करता है।

अपनी क्रियाओं द्वारा व्यक्ति एक संश्लेषण कर, मूर्त सामान्य, एक अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचना चाहता है किन्तु वह अन्तिम लक्ष्य उसकी क्रियाओं का परिणाम है, वह पूर्व विद्यमान नहीं है। वह भविष्य का नियामक नहीं हो सकता वह मानवीय प्रयासों की अन्तिम उपलब्धि नहीं हो सकता। उसका क्षेत्र सदैव एक खुली संभावना है, एक क्षितिज के बाद दूसरा क्षितिज विद्यमान होता है। मनुष्य अपने प्रयासों द्वारा निरन्तर नये मूल्यों एवं लक्ष्यों की खोज करता है। कोई ऐसी स्थिति नहीं है जहां पहुंचकर मनुष्य के सभी संभावनाओं का अन्त हो जाए। सार्त्र इसीलिए यह कहता है कि–'मनुष्य मनुष्य का भविष्य है।' यहां सार्त्र यह स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य में अनन्त संभावनाएं अन्तर्निहित हैं जिन्हें साकारकरने के लिए मनुष्य निरन्तर प्रयासरत रहता है।

13.14 ज्याँ पाल सार्त्र का मानव स्वातंत्र का सिद्धांत उसकी मानव चेतना सम्बन्धी विशिष्ट धारणा का परिणाम है।

ज्याँ पाल सार्त्र मानव चेतना को अवस्तुत्व के रूप में व्यक्त करते हैं, जिसमें सत्ता से निषेध की क्षमता है। इसलिए मानव चेतना जगत से सम्बन्ध विच्छेद करके

उससे एक दूरी पर स्थित होकर उस पर विचार या अनुचिन्तन कर सकती है। इस प्रकार चेतना सत्ता के अर्थयुक्त बनाती है। चेतन सदैव 'किसी की' चेतना होती है, इस 'किसी की' के अभाव में वह अवस्तुत्व हो जाती है। चेतना का यही 'अवस्तुत्व' उसकी स्वतंत्रता है। चेतना के अवस्तुत्व का एक और पहलू है– चेतना और आत्मा का संबंध। ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि चेतना पारदर्शी स्वभाव नष्ट हो जाता है। चेतना पूर्णतया स्वच्छन्द उन्मुक्त एवं अनिर्धारित होती है। किसी आत्मा की परिकल्पना करना चेतना के शुद्ध विषयापेक्षी प्रवाह को निर्धारित करना है। दुश्चिन्ता के क्षणों में ही हमें अपने इस स्वतंत्र स्वरूप की अनुभूति होती है। ऐसे क्षणों में हमें यह अनुभूति होती है कि हमारे कार्यों का कोई पूर्व–स्थित आन्तरिक अथवा बाह्य आधार नहीं है।

मनुष्य की स्वतंत्रता का यह बोध प्रारंभ में अत्यंत भयावह होता है। मनुष्य इस अनुभूति को सहन नहीं कर पाता कि उसका कोई अतीत और भविष्य तथा आत्मा नहीं है, बल्कि उसकी योजनाएं और चुनाव ही उसका जीवन है, वह अपने चुनाव के लिए स्वयं उत्तरदायी है। उत्तरदायित्व का यह भार मनुष्य के लिए असहनीय है, इसलिए वह इस विश्वास की शरण में जाता है कि जगत की व्यवस्था इस भांति निश्चित है कि उसके भीतर उसके सभी क्रियाकलाप चुनाव एवं निर्णय भी निर्धारित है और उस जगत व्यवस्था के लिए ईश्वर, प्रकृति अथवा समाज उत्तरदायी है। सार्त्र के अनुसार अपने उत्तरदायित्व से बचने की यह प्रवृत्ति एक प्रकार की 'दुरावस्था' है।

13.15 ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार मानव स्वतंत्रता की अनुभूति में उत्तरदायित्व का भाव है

ज्यां पाल सार्त्र का यह मानना है कि 'मानव स्वतंत्रता' की अनुभूति में उत्तरदायित्व का भाव अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है। मनुष्य की स्वतंत्रता उसे निरन्तर क्रियाशील रखती है, इसी क्रियाशीलता में मनुष्य के अस्तित्व का विकास होता है, इन्ही स्वतंत्र निर्णयों के आधार पर वह आत्म निर्णय करता है। इसलिए मनुष्य के द्वारा अपने आत्मनिर्माण सम्बन्धित पूर्ण उत्तरदायित्व उसी पर है। सार्त्र कहते हैं कि–'उत्तरदायित्व की दृष्टि से स्वतंत्रता एक भार है, हर निर्णय में व्यक्ति को एक भार वहन करना पड़ता है, वह भार उत्तरदायित्व का भार है।' इसीलिए सार्त्र यह कहते हैं कि चेतन अस्तित्व का अर्थ है– इस उत्तरदायित्व के भार के प्रति सदा सतर्क रहना।

13.16 ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार उत्तरदायित्व का भाव 'स्वयं' के प्रति भी है तथा 'अन्य' के प्रति भी है

ज्यां पाल सार्त्र मानव स्वतंत्रता से अनिवार्यतः सम्बद्ध जिस उत्तरदायित्व का वर्णन करते हैं वह किसी स्वतंत्र मनुष्य के लिए 'स्वयं' में तो महत्वपूर्ण है ही साथ ही यह उत्तरदायित्व का भाव अन्य लोगों के लिए भी महत्वपूर्ण है। मनुष्य अपने प्रत्येक

निर्णय में स्वयं के प्रति उत्तरदायी तो है ही क्योंकि उसे यह अनुभूति है कि उसी के निर्णय पर उसकी योजनाएं निर्भर करती हैं यह निर्भर करता है कि वह किस रूप में अब अस्तित्ववान होगा। परन्तु सार्त्र का कहना है कि व्यक्ति जब अपने लिए कोई निर्णय लेता है तो उसका वह निर्णय केवल स्वयं तक ही सीमित नहीं रह जाता अपितु वह अपने उस निर्णय के द्वारा मानव समाज का भी मार्ग दर्शन करता है। मनुष्य के किसी निर्णय पर सम्पूर्ण मानव समाज की निगाहें टिकी होती हैं इसीलिए मनुष्य अपने निर्णय के प्रति स्वयं उत्तरदायी तो है ही साथ–साथ सम्पूर्ण मानव जाति के प्रति भी उत्तरदायी होता है।

सार्त्र का कहना है कि कोई भी मनुष्य किसी विशेष परिस्थिति में जो निर्णय लेता है उस परिस्थिति विशेष में उसके द्वारा लिया गया निर्णय के रूप में उभरता है। इसका अर्थ यह है कि वह उस प्रकार का निर्णय तभी लेता है जब वह यह सोच लेता है कि ऐसी परिस्थिति में फंसा हरव्यक्ति यही निर्णय लेगा। इस प्रकार अपने लिए निर्णय लेने में एक प्रकार से अन्य का भी वह मार्गदर्शक बन जाता है। ज्यां पाल सार्त्र का यह स्पष्ट मत है कि मनुष्य के द्वारा किए गये किसी निर्णय के अनुरूप ही उसका जीवन एक विशेष दिशा में प्रवाहित होता है, किन्तु मनुष्य द्वारा लिए गए किसी भी निर्णय में 'अन्य' के प्रति भी उसका उत्तरदायित्व परिलक्षित होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मनुष्य अपने लिये जब कोई चुनाव करता है तो उसका उसका वह चुनाव सम्पूर्ण मानव समाज के लिए भी होता है, क्योंकि मनुष्य मानव समाज में ही तो अपना जीवन जी रहा है। इसीलिए मनुष्य स्वयं के प्रति उत्तरदायी होने के साथ सम्पूर्ण मानव समाज के प्रति भी उत्तरदायी है।

13.17 स्वतंत्रता का महत्वपूर्ण परिणाम उत्तरदायित्व है

ज्यां पाल सार्त्र के अस्तित्ववादी चिन्तन में स्वतंत्रता की चरम परिणति उत्तरदायित्व के भाव में होती है। यद्यपि सार्त्र यह कहते हैं कि मेरा चुनाव केवल मेरा अपना है, किसी अन्य द्वारा नियंत्रित नहीं है, किन्तु मेरे चुनाव का सम्बन्ध केवल मुझसे ही नहीं है, उसका सम्बन्ध सम्पूर्ण मानवता से है। अपने चुनाव द्वारा मैं मूल्यों की रचनाक करता हूं, जिसके लिए उत्तरदायित्व केवल मेरा है। यही उत्तदायित्व की भावना मेरे अन्दर परिताप उत्पन्न करती है। जब सार्त्र मनुष्य का 'परिताप' अथवा 'एकाकी' कहता है, तो उसके ऐसा कहने का अभिप्राय मनुष्य की गरिमा को कम करना नहीं है, अपितु मनुष्य के अस्तित्व को और प्रभावी बनाना है। 'मनुष्य परिताप है' सार्त्र के इस कथन का अभिप्राय यह है कि मनुष्य सम्पूर्ण मानवता में सक्रिय रूप से भागीदार है तथा इसी कारण उसमें गम्भीर उत्तरदायित्व की भावना है।

मनुष्य अपने लिए जो चुनाव या निश्चय करता है, वह महान उत्तरदायित्व का कार्य है और इस उत्तरदायित्व को अनुभव करनेवाला व्यक्ति परिताप की भावना से बच

नहीं सकता। यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि वह जो कुछ कर रहा है, वहउसका नितान्त अपना है, केवल उसी को ही वैसा करने का अधिकार है, तो सार्त्र काण्ट के ढंग से यह प्रश्न उठाते हैं, यदि सभी लोग वैसे ही सोचें तो क्या होगा? यह प्रश्न सामान्य मनुष्य के लिए निश्चय ही क्षोभ उत्पन्न करनेवाला है। जो व्यक्ति इस प्रकार के संक्षोभ से इन्कार करता है वह दोहरे व्यक्तित्व वाला है, वह वस्तुतः अपने संक्षोभ को छिपा रहा है। अपने निर्णय एवं व्यवहार की स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति इस विचार से ग्रस्त होता है जैसे समस्त मानवता की निगाहें उसी पर टिकी हैंअपने अस्तित्व की निजता में सीमित रहना उसके लिए संभव नहीं है। यही मनुष्य का परिताप है। यह परिताप उत्तरदायित्व की भावना से उत्पन्न होता है, अतएवयह मनुष्य को निष्क्रियता की ओर नहीं ले जाता है, अपितु यह मनुष्य की कर्मठता की शर्त के रूप में प्रकट होता है। यह क्रिया के लिए व्यवधान नहीं, अपितु क्रिया का भाग है।

ज्याँ पाल सार्त्र का यह भी मानना है कि मानव अस्तित्व में अन्तर्निहित यह परिताप की भावना उसके 'एकाकीपन' से सम्बद्ध है ईश्वर के अस्तित्व को सार्त्र द्वारा अस्वीकार करने के महत्वपूर्ण परिणाम होते हैं तथा ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करने वाला व्यक्ति ही उसके लिए उत्तरदायी होता है। ईश्वरविहीन संसार में मनुष्य नितान्त अकेला है, क्योंकि ईश्वर के निषेध से मानवीय कर्मों और मूल्यों के स्वर्गीय अथवा अलौकिक आधार की संभावना समाप्त हो जाती है। मनुष्य का कोई पूर्वनिर्धारित स्वरूप नहीं रह जाता ऐसी दशा में मनुष्य अपने कर्मों के लिए कोई बहाना नहीं ढूंढ सकता। मानव मूल्यों का कोई शाश्वत और पूर्व निर्धारित स्रोत नहीं रह जाता। मनुष्य जो कुछ भी करता है, उसके लिए स्वयं उत्तरदायी है। मनुष्य इसी अर्थ में स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है। चुनाव और निर्णय करने की स्थिति मे वह नितान्त अकेला है, क्योंकि वह न तो ईश्वर का सहारा ले सकता है और न ही सार्वभौम विधान का। सार्वभौम नियम भी अत्यन्त अस्पष्ट होते हैं, अस्तित्वपरक परिस्थितियों में मनुष्य को स्वयं अपना मार्ग चुनना पड़ता है, वह किसी से निर्देश या सहायता की अपेक्षा नहीं कर सकता।

13.18 निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि ज्यां पाल सार्त्र अपने अस्तित्ववादी चिन्तन में स्वतंत्रता एवं उत्तरदायित्व की अवधारणा को केन्द्रीय महत्व देते हैं। वे मानव की स्वतंत्रता को मानव अस्तित्व की अनिवार्य शर्त मानते हैं। मनुष्य अपने स्वतंत्रता के कारण ही अपना आत्म निर्माण करता है। मानव ही मूल्यों का स्रष्टा है और जिन मूल्यों को अपने जीवन में अपनाता है, उसके चुनाव करने या न करने का पूर्ण उत्तरदायित्व उसी पर है। इस प्रकार मूल्यों के प्रति मनुष्य की प्रतिबद्धता में मानव की स्वतंत्रता भी अभिव्यक्त होती है। मनुष्य अपने प्रत्येक चुनाव सम्पूर्ण मानवता का भी मार्गदर्शक होता है, क्योंकि किसी विशेष परिस्थिति में उसके द्वारा किया गया चुनाव उसका सर्वश्रेष्ठ

चुनाव होता है। इसलिए मानव का उत्तरदायित्व स्वयं के प्रति होता ही है, सम्पूर्ण मानव जाति के प्रति भी है। अतएव ज्याँ पाल सार्त्र स्वतंत्रता एवं उत्तरदायित्व को मानव अस्तित्व का अपरिहार्य अंग बनाकर अपने अस्तित्ववाद को कर्म के दर्शन के रूप में परिणत कर दिया है। मनुष्य की कर्मों के अतिरिक्त कोई वास्तविकता नहीं है।

मनुष्य अपनी योजनाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अपने कार्यों के समुच्चय तथा जीवन से पृथक मनुष्य का कोई स्वरूप नहीं है। ज्यां पाल सार्त्र के अस्तित्ववाद का विरोध वे लोग ही करते हैं जो अपनी असफलताओं के लिए कोई न कोई बहाना खोजते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अस्तित्ववाद अतिशय आशा का दर्शन है, क्योंकि यह स्पष्ट रूप से यह उद्घोषणा करता है कि मनुष्य पूर्णतः स्वतंत्र है, वह अपने मार्ग का स्वयं निर्धारक है, मूल्यों का स्रस्टा है। मनुष्य स्वयं अपना निर्माण करता है तथा उसकी नियति उसकी के नियंत्रण में है।

13.19 सारांश

ज्यां पाल सार्त्र अपने अस्तित्ववादी चिन्तन में स्वतंत्रता एवं उत्तरदायित्व को केन्द्रीय महत्व देते हैं। मानव स्वतंत्रता को मनुष्य के अस्तित्व के पर्याय के रूप में विवेचित करत हैं। मानव स्वतंत्रता की स्थापना के लिए सार्त्र निर्धारण वाद का खण्डन करते हैं और यह स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य का कोई पूर्व निर्धारित स्वरूप नहीं है। ज्यां पाल सार्त्र ने मानव स्वतंत्रत को चुनाव के अर्थ में ग्रहण करते हैं और यह घोषणा करते हैं कि 'मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है।' मनुष्य को चुनाव करना ही है अधिक से अधिक व किसी चुनाव को टाल सकता है, यह चुनाव का टालना भी एक प्रकार का चुनाव ही है। यही मानव स्वतंत्रता की मजबूरी है, अभिशप्तता है, विवशता है।

मानव की यह स्वतंत्रता 'कुछ नहीं' की चेतना है। ज्यां पाल सार्त्र मानव स्वतंत्रता को 'अवस्तुत्व' के रूप में मनुष्य में ही अन्तर्निहित मानते हैं। यह अवस्तुत्व मनुष्य के अन्दर निहित सम्भावनाएं हैं जिसको प्रकट करने के लिए मनुष्य निरन्तर सक्रिय रहता है। सार्त्र का काननना है कि दुश्चिन्ता की अवस्था में मनुष्य को अपनी स्वतंत्रता की स्पष्ट चेतना होती है। सार्त्र का यह माननना है कि मनुष्य अपने स्वतंत्र चुनों के द्वारा अपना आत्मनिर्माण करता है और उसकी योजनाओं और कार्यों में कोई और सहायता नहीं कर सकता, क्योंकि कोई ईश्वर जैसा सहारा नहीं है, जिसकी सहायता की वह अपेक्षा कर सके। इसलिए मनुष्य का जो भी चुनाव होता है वह उसके प्रति उत्तरदायी है।

मनुष्य अपने चुनावों के लिए स्वयं के प्रति उत्तरदायी तो है ही साथ–साथ वह अन्य के प्रति एवं सम्पूर्ण मानव समाज के प्रति भी उत्तरदायी है, क्योंकि जिस परिस्थिति विशेष में वह कोई चुनाव करता है, वह उसका सर्वश्रेष्ठ चुनाव होता है इसलिए मनुष्य अपने चुनाव द्वारा सम्पूर्ण मानवता का मार्गदर्शक होता है। उसका चुनाव नितान्त निजी न

होकर सम्पूर्ण मानवता के लिए किया गया चुनाव है। इसलिए मनुष्य के उत्तरदायित्व का विस्तार सम्पूर्ण मानवता के लिए विस्तारित है। सार्त्र का यह स्पष्ट अभिमत है कि मानव मूल्यों, नियमों एवं प्रतिमानों का कोई प्रागनुभविक स्रोत नहीं है, बल्कि मनुष्य ही स्वयं अपने स्वतंत्र चुनावों के द्वारा अपने मूल्यों, नियमों और प्रतिमानों की रचना करता है।

13.20 बोध प्रश्न

1. ज्यां पाल सार्त्र के स्वतंत्रता एवं उत्तरदायित्व की अवधारणा का विवेचन कीजिए।
2. स्वतंत्रता के सम्मुख दुश्चिन्ता होती है, सार्त्र के इस कथन की व्याख्या कीजिए।
3. 'मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है' सार्त्र के इस कथन की व्याख्या कीजिए।
4. 'स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व मनुष्य के परिताप हैं' सार्त्र के इस कथन से आप कहां तक सहमत हैं? विवेचना कीजिए।

13.21 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन पाश्चात्य दर्शन : प्रो. बी.के. लाल
2. अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक : लक्ष्मी सक्सेना, सभाजीत मिश्र
3. ज्याँ पाल सार्त्र (मानव अस्तित्व, स्वतंत्रता एवं उत्तरदायित्व) – डॉ. श्यामकान्त
4. Jean Paul Sartre - Maurice

इकाई –14 ज्यां पाल सार्त्र के अस्तित्ववाद में दुरावस्था

इकाई की रूपरेखा :

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 दुरावस्था आत्मप्रवंचना है

14.3 ज्याँ पाल सार्त्र के द्वारा फ्रायड के आत्म प्रवंचना की व्याख्या की आलोचना

14.4 दुरावस्था झूठ बोलने से भिन्न है

14.5 मानव जीवन में यह दुरावस्था दो रूपों में व्यक्त होती है

14.6 सार्त्र के अनुसार मनुष्य का सारा जीवन दुरावस्थापर आधारित है।

14.7 ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार सम्पूर्ण मानवीय सम्बन्ध दुरावस्था द्वारा नियमित हैं।

14.8 निष्कर्ष

14.9 सारांश

14.10 बोध-प्रश्न

14.11 उपयोगी पुस्तक

14.0 उद्देश्य

– ज्याँ पाल सार्त्र के दुरावस्था में यह स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य अपने कार्यों के लिए जब ऐसे कारणों की खोज करता है, जिससे स्वयं के उत्तरदायित्व से बच सके, मनुष्य की यह अवस्था दुरावस्था है।

– दुरावस्था का सहारा लेकर मनुष्य स्वतंत्रता तथा उत्तरदायित्व से उत्पन्न चिन्ता तथा उस चिन्ता से उत्पन्न दुःख से मुक्त होना चाहता है। इसके लिए वह बहानों की खोज करता है, अपनी स्वतंत्रता को सीमित करने के कारणों की खोज करता है।

– ज्याँ पाल सार्त्र द्वारा यह बताया गया है कि अपने स्वतंत्रता को सीमित करने के लिए लिए बहानों की खोज एक प्रकार की रक्षाप्रविधि है, जिसे की सार्त्र दुरावस्था की संज्ञा देते हैं।

14.1 प्रस्तावना

अस्तित्ववादी दार्शनिक ज्याँ पाल सार्त्र ने मानव के आन्तरिकता में अन्तर्निहित

चिन्ता, निरावलम्बता, निराशा, ऊब, संत्रास आदि अनुभूतियों को मानव अस्तित्व को प्रामाणिकता, मानव अस्तित्व के विशिष्ट मानवीयता की एक मात्र प्रामाणिक अवस्था मानते हुए इसी के अनुरूप जीवन व्यतीत करने को ही प्रामाणिक जीवन माना है। मानव के आन्तरिकता में अन्तर्निहित इन प्रवृत्तियों से अधिकांश मनुष्य घबराकर, त्रस्त होकर इससे बचने का मार्ग ढूंढने लगते हैं। आधुनिक युग में अधिकांश मनुष्य अपने कार्यों के उत्तरदायित्व से बचने के लिए प्रायः यह कहते हुए देखे जाते हैं कि 'क्या करूं परिस्थितियां मेरे अनुकूल नहीं थीं।' इस प्रकार के कथन के द्वारा मनुष्य अपने कार्यों की असफलता के उत्तरदायित्व से बचना चहता है।

आधुनिक युग के अधिकांश लोगों की यह मान्यता है कि प्रामाणिक जीवन व्यतीत करना बड़ा ही कठिन है, क्योंकि आधुनिक युग में प्रायः सभी लोग चिन्ता, दुःख निराशा इत्यादि से बचना चाहते हैं। ज्याँ पाल सार्त्र ने अपने अस्तित्ववाद में यह दिखाया है कि मानवीय अस्तित्व की विशिष्टता मानवीय अस्तित्व की गरिमा, मनुष्य की मानवीयता इन अनुभूतियों के साथ जीवन जीने में है। ये सभी अनुभूतियां मनुष्य के चेतन अस्तित्व के अंग हैं, ये सब मनुष्य की अस्तित्व में अन्तर्निहित अपरिहार्य प्रवृत्तियां है। इन प्रवृत्तियों को मनुष्य अपने अस्तित्व में आत्मसात कर ही प्रामाणिक जीवन व्यतीत कर सकता है।

जब मनुष्य चिन्ता, दुःख निराशा, ऊब इत्यादि आन्तरिक अनुभूतियों से भागता है, इससे बचता है, तो वह अपनी मानवीयता से, मानव के उत्तरदायित्व बोध से चेतना अस्तित्व से भागने का प्रयास करता है। ज्याँ पाल सार्त्र का मानना है कि सत्ता के तीन आयाम हैं– मानव का चेतन अस्तित्व जिसे ज्याँ पाल सार्त्र 'निज हेतु सत्' (Being for itself) कहते हैं, 'निज में सत्' (Being in itself), जिसे सार्त्र अचेतन सत्ता कहते हैं तथा 'अन्य हेतु सत्' (Being for other) जिसे सार्त्र अचेतन सत्ता कहते हैं, तथा 'अन्य हेतु सत्' ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि जब मनुष्य जगत का साझीदार बनता है तो उसे अपने चेतन सत् के साथ–साथ सत्ता के अन्य आयामों से भी सामना करना पड़ता है, जो अचेतन सत्ता एवं अन्य सत्ता के रूप में जगत में विद्यमान है। ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि जब मनुष्य अपने चेतन सत् से भागने का प्रयास करता है, ऐसे कारणों की खोज को सीमित करने के लिएबहानों की खोज करता है। यह मनुष्य की अपने उत्तरदायित्व से बचने की एक एक रक्षा प्रविधि है, जिसे ही सार्त्र दुरावस्था की संज्ञा से अभिहित करते हैं सार्त्र कहते हैं कि 'दुरावस्था' एकप्रकार की आत्म प्रवंचना है, आत्मा में निहित झूठ है।

14.2 दुरावस्था आत्मप्रवंचना है–

ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि जब मनुष्य अपने दायित्व बोध तथा उससे उत्पन्न निराशा से मुक्ति पाने के लिए अथवा कम से कम उसे सहनीय बनाने के लिए अपने वास्तविक स्थिति को स्वीकार नहीं करना चाहता है क्योंकि वह उसके लिए सुखद

या अनुकूल नहीं होती है, तो मनुष्य की इस स्थिति को आत्म प्रवंचना कहते हैं। इस आत्म प्रवंचना की स्थिति में मनुष्य स्वयं को ठगता है, अपने को इस भुलावे में डालने की कोशिश करता है कि नियति एवं परस्थितियों पर उसका कोई नियंत्रण नहीं है।

सार्त्र कहता है कि मनुष्य की यही समझ तो आत्म प्रवंचना है। यह अपने आपको धोखा देने का एक बहाना है, क्योंकि यह अपनी वास्तविकता को अपने ही से छिपाने की चेष्टा करता है। मनुष्य अपने दुरावस्था की स्थिति के लिए कारणों की खोज करता है, मानो वह किसी अन्य के द्वारा उत्पन्न स्थिति हो अथवा यह हो सकता है कि हम स्थिति की वास्तविकता को नजर अन्दाज करना चाहते हों, जान बूझकर उसके वास्तविक अर्थ को न ग्रहण कर, उसे अन्य रूप देना चाहते हों। सार्त्र के अनुसार यह एक प्रकार की आत्म प्रवंचना है, ''आत्मा में निहित झूठ है।'' सार्त्र का कहना है कि आत्म प्रवंचना झूठ बोलने के समान है। जिस प्रकार झूठ जान बूझकर बोला जाता है उसी प्रकार दुरावस्था में भी मनुष्य जानबूझकर अपनी स्थिति की अन्य व्याख्या करना चाहता है।

सार्त्र के उपन्यासों एवं नाटकों के प्रायः सभी पात्र एक प्रकार की दुरावस्था के शिकार हैं, क्येांकि वे अपनी मूल स्वतंत्रता को स्वीकार करने से कतराते हैं। दुरावस्था केवल अपनी स्वतंत्रता की ही अस्वीकृति नहीं है, अपितु अपनी किसी वास्तविकता–कायरता, कामवासना, नृशंस व्यवहार आदि की अस्वीकृति है। सार्त्र के नो एग्जिट का नायक 'गार्सिन' अपनी कायरता नहीं स्वीकार करता, 'द फ्लाइज' के 'ओरस्टेस' का पश्चाताप उसकी दुरावस्था का सूचक है, 'एज आफ रीजन' के नायक 'मैथ्यू' तथा 'बोरिस' अपनी स्वतंत्रता को नकारते हैं, इसी उपन्यास की नायिका 'मार्सोली' 'रेस्पेटेबुल प्रास्टीच्यूट' की नायिका 'लिजी' तथा 'डर्टी हैण्डस' की 'जेसिका' अपनी काम वासना के कारण दुरावस्था की शिकार हैं।

14.3 ज्याँ पाल सार्त्र के द्वारा फायड के आत्म प्रवंचना की व्याख्या की आलोचना

मनुष्य के आत्म प्रवंचना की एक अत्यंत महत्वपूर्ण व्याख्या फ्रायड ने अपने मनोविश्लेषणवाद में की है, किन्तु सार्त्र फ्रायड की व्याख्या की आलोचना करते हैं। फ्रायड का कहना है कि मनुष्य का अचेतन मन चेतन मन से उसके जीवन के अप्रिय सत्यों को छिपाने का प्रयास करता है। सार्त्र के अनुसार फ्रायड का यह सिद्धांत चेतना को दो भागों में विभाजित कर देता है, जो कि चेतना के मूल पारदर्शी स्वरूप के विपरीत है। अचेतन मान की अवधारणा चेतना में एक अपारदर्शिता का प्रवेश कराती है, किन्तु चेतना स्वरूपतः पारदर्शी है। अपारदर्शिता सत्ता का लक्षण है, न कि चेतना का। ज्याँ पाल सार्त्र की धारणा मनुष्य की स्वतंत्रता के सम्बन्ध में फ्रायड और मार्क्स की धारणाओं से भिन्न है। फ्रायड मनुष्य के स्वतंत्रता के सन्दर्भ में सामाजिक परिस्थितियों की अवहेलना करता है, तो मार्क्स मनुष्य की व्यष्टिता का। ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार

स्वतंत्रता विषयिता का लक्षण है, किन्तु उसकी संभावना विषय जगत पर ही निर्भर करती है। इस प्रकार सार्त्र का यहमानना है कि फ्रायड की आत्म प्रवंचना की व्याख्या मानव स्वरूप की व्याख्या करने में असफल रहती है।

14.4 दुरावस्था झूठ बोलने से भिन्न है

ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार दुरावस्था आत्म प्रवंचना है, अपनी वास्तविकता को स्वयं अपने से छिपाना है। इस कारण से यह सामान्य रूप से झूठ बोलने से भिन्न है। झूठ किसी अनय से बोला जाता है, झूठ बोलने वाला सत्य से भलीभांति परिचित होता है। दुरावस्था की स्थिति में व्यक्ति अपनी वास्तविकता को स्वीकार न कर उसे एक अन्य रूप में जो उसके लिएहो प्रस्तुत करने काप्रयास करता है। दुरावस्था में मनुष्य 'अन्य' से नहीं अपने आप से ही सत्य को छिपाता है। दुरावस्था मनुष्य की चेतना की एक विशिष्ट योजना है, जिसमें वह 'विस्मरण' का एक ढंग निकालने का निश्चय करता है। दुरावस्था में साधारण झूठ के समान 'जानकारी' एवं 'अनभिज्ञता' के दो स्तर नहीं होते, क्योंकि यहां 'प्रवंचक' तथा जिसे ठगा जा रहा है, दो व्यक्ति नहीं हैं। 'दुरावस्था' में व्यक्ति स्वयं अपने को छलता है, किन्तु इस छलने के समय वह पूर्ण रूप से उसी छलावे में जीने का प्रयास करता है।

14.5 मानव जीवन में यह दुरावस्था दो रूपों में व्यक्त होती है

ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि मानव जीवन में यह दुरावस्था दो प्रकार से व्यक्त होती है–

(i) चेतन सत्ता अपने को अचेतन वस्तु में परिणत कर दे एवं

(ii) अपने को अन्य के दृष्टि का विषय मात्र बना दे।

दुरावस्था की प्रथम अवस्था में चेतन सत्ता अपने को अचेतन वस्तु में परिणत कर देती है। इस अवस्था में चेतन सत्ता अपने को इस प्रकार छोड़ देती है कि वह कोई निर्णय लेने वाली चेतन सत्ता नहीं है, बल्कि 'वस्तुओं' के सामने प्रतिक्रियाओं का समूहमात्र है। दुरावस्था की इस अवस्था की व्याख्या के लिए सार्त्र एक महिला का उदाहरण लेते हैं, जो अपने साथी के साथ प्रथम बार घूमने जाती है। यह महिला भली भांति जानती है कि उसका साथी उसमें इतनी रुचि क्यों ले रहा है? वह उसकी काम–वासना को अच्छी तरह समझती है और यह भी जानती है कि अन्त में उसे उस व्यक्ति की काम भावना को दृष्टि में रखते हुए कोई न कोई निर्णय लेना पड़ेगा, तथापि वह उसकी बातों का उसकी भाव भंगिमाओं का केवल सतही अर्थ लगाती है। यदि वह व्यक्ति कहता है कि ''आप अत्यंत आकर्षक लग रही हैं'' तो वह इस वाक्य का केवल प्रशंसात्मक अर्थ लगाती है, यह नहीं स्वीकारती कि यह कह कर व्यक्ति उसके शरीर के प्रति अपनी इच्छा व्यक्त कर रहा है। वह यह समझती है कि व्यक्ति की बातों में उसी

प्रकार की ईमानदारी एवं सम्मान का भाव है, जिसप्रकार 'मेजें चौकोर हैं अथवा दीवारों का रंग नीला या भूरा है।' जैसे वाक्यों का शाब्दिक अर्थ होता है। वास्तव में यह सब इसीलिए है कि क्योंकि वह महिला स्वयं ही यह नही जानती है कि वह क्या चाहती है? वह अपनी कामोत्तेज स्थिति को जानती है, किन्तु उसके नग्न रूप को स्वीकार करने से घबराती है। किन्तु यह इस व्यक्ति का दृष्टिकोण उसके प्रति केवल सम्मान का दृष्टिकोणहो तो यह स्थिति भी उसे स्वीकार्य नहीं हो सकती।

वस्तुतः वह महिला अपनी कामेच्छा को भी पूरी तरह नहीं स्वीकार करती। वह चाहती है कि उसका साथी उइसके शारीरिक सौन्दर्य के प्रति आशक्त भी बना रहे और उसकी स्वतंत्रता भी बनी रहे। लेकिन मान लीजिए कि उसका साथी सहसा उसका हाथ पकड़ लेता है। अब उस महिला को एक निर्णय लेना है। यदि वह अपना हाथ नहीं हटाती तो इसका अर्थ यह होगा कि उसे अपने साथी का प्रणय प्रस्ताव स्वीकार है, यदि हाथ हटा लेती है तो उस क्षण की सुखद अनुभूति समाप्त हो जाती है। इस निर्णय के क्षण में महिला की प्रतिक्रिया इस प्रकार है –''वह अपना हाथवहीं छोड़ देती है, किन्तु वह इस पर ध्यान नहीं देती। ऐसा इसलिए क्योंकि वह उस क्षण केवल बुद्धि या विवेक पर रह जाती है। वह अपने साथी को भावात्मक चिन्तन के उदात्त क्षेत्र में खींच ले जाती है, उससे अमूर्त जीवन की तथाअपने जीवन की चर्चा करती है तथा अपने को शुद्ध चेतना के रूप में प्रस्तुत करती है और इस कालान्तर में शरीर एवं आत्मा का पूर्ण संबंध विच्छेद हो चुका होता है, उसका हाथ उसके साथी के गर्म हाथों के बीच निश्चल पड़ा होता है– एकवस्तु की भांति न सहमति देते हुए न विरोध करते हुए।''

ज्याँ पाल सार्त्र महिला के उदारण के द्वारा दिखाते हैं कि यह महिला दुरावस्था की शिकार है। सर्व प्रथम वह अपने साथी की सभीगतिविधियों को उसके सतही अर्थ तक सीमित कर देती है, इसी के साथ वह उसकी इच्छा का आनन्द भी लेती है, तब तक वह यह सोचती है वह कामेच्छा नहीं है। अन्त में वह अपने शरीर से एक प्रकार के सम्बन्ध विच्छेद की कल्पना करती है–मानो उसका शरीर उससे बाहर स्थित निष्क्रिय वस्तु है, जिसे कुछ भी हो सकता है और वह उससे अप्रभावित रहेगी। उसकी सारी प्रक्रियायें उसके साथी तथा स्वयं उसकी अपनी कामेच्छा के नकारने पर आधारित है।

दुरावस्था का एक अन्य उदाहरण सार्त्र समलैंकित पुरुष के उदाहरण से देता है। 'एज आफ रीजन' में 'डेनियल' एक समलैंगिक पुरुष है। वह अपने अतीत के समलैंगिक कृत्यों को स्वीकार करता है, किन्तु उसके लिए कोई न कोई कारण ढूंढने का प्रयास करता है, जैसे कि उसने ऐसा संयोग वश किया अथवा यह उसका दुर्भाग्य था अथवा ऐसे सौन्दर्य से आकृष्ट होकर जो स्त्रियों में मिलता। ऐसा व्यक्ति अपने अतीत के सभी समलैंगिक कृत्यों को स्वीकार करते हुए भी अपने को समलैंगिक मानने से इंकार करता है। यह समलैंगिक व्यक्ति उसी अर्थ में 'दुरावस्था' से युक्त है, जैसे पूर्वगामी उदाहरण

की महिला।

यह सही है कि वह उस निरपेक्ष अर्थ में समलैंगिक नहीं है, जिसअर्थ में वस्तु होती है। अर्थात् किसी मनुष्य के अतीत व्यवहार से उसका सारतत्व नहीं निर्धारित किया जा सकता। भविष्य के रूप में मनुष्य अतीत से स्वतंत्र होता है और समलैंगिक अपनी इसी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए समलैंगिक होने के तथ्य को स्वीकार करता है। किन्तु उसकी यह स्वतंत्रता उस अतीतपर नहीं लागू होती। उसका अतीत तो स्वयं में सत्ता है, वह पूर्णतया परिभाषित है और जिस अर्थ में कुछ विशेष प्रकार के कृत्यों को करने वाले व्यक्ति को समलैंगिक कहा जाता है, जहां तक उसने वैसे कृत्य किये हैं वह समलैंगिक है। अतएव उसका यह कहना है कि वह बिलकुल समलैंगिक नहीं, दुरावस्था का प्रतीक है।

14.5.2 ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार दुरावस्था का दूसरा रूप तब व्यक्त होता है जब कोई भी व्यक्ति अपने को 'अन्य' की दृष्टि का विषय मात्र बना दे। इस अवस्था में मनुष्य अपने को पूर्णतया 'अन्य' के संकेत पर नाचने वाली कठपुतली के समान बना लेता हैं सार्त्र 'दुरावस्था' की इस रूप की व्याख्या होटल के उस वेटर के द्वारा देते हैं जो हर मेज पर आदेशानुसार सामान पहुंचाता है। सार्त्र कहते हैं कि वह वेटर वस्तुतः उसप्रकार का वेटर नहीं है जिस प्रकार यह कलम कलम है। फिर भी वह अपने को केवल वेटर में परिणत कर लेता है तथा अन्य के आदेशों के अनुसार दौड़ता चलता है। वस्तुतः वह यह भली भांति जानता है कि वह एक व्यक्ति है जिसने वेटर बनने का निश्चय किया है, क्योंकि वेटर बनने से कुछ अतिरिक्त पैसे मिलेंगे। परन्तु अपने वेटर के कार्य में वह अपनी संभावनाओं को भुलाये रखता है। यदि वह 'वेटर' के कार्य वह अपनी संभावनाओं को चेतना में रखे तो वह वेटर के कार्य को दक्षता से नहीं कर पायेगा। यही कारण है कि वह धीरे–धीरे अपने को वेटर बना लेता है। वह ऐसा बन जाता है कि उसके पास वेटर बनने के अलावा कोई विकल्प नहीं है।

सार्त्र कहते हैं कि यह साधारण 'धोखा' यहा झूठ के समान नहीं है, क्योंकि साधारण झूठ के उदाहरण में व्यक्ति के आन्तरिक एवं वाह्य कार्य में एकरूपता नहीं होती। साधारण झूठ में भी व्यक्ति सत्य को जानते हुए भी झूठ बोलता है। सार्त्र कहते हैं कि वेटर अपने आन्तरिक एवं वाह्य कार्य में पूर्णतया 'वेटर' ही बना रहता है। 'वेटर' की यह अवस्था 'दुरावस्था' की अवस्था है, क्योंकि वेटर होना उस व्यक्ति की वास्तविकता नहीं है, वह अन्य की दृष्टि में केवल अपने को एक कठपुतली बना लेता है और उनके संकेत पर इधर–उधर दौड़ता रहता है। दुरावस्था की इस अवस्था में अपने को 'अन्य' केआदेश या संकेत पर छोड़ देता है।

अन्य की दृष्टि में अपने को विशय के रूप में परिणत कर देने वाली 'दुरावस्था' का अत्यंत सुंदर वर्णन हमें 'सिमोन द बोउआ' के उपन्यास 'द ब्लड आफ अदर्स' में

मिलता है। यह मानवीय संबंधों एव राजनीतिक दृष्टिकाणों में पायी जाने वाली दुरावस्था का वर्णन है। सिमोन द बोउआ' अपने इस उपन्यास में यह दिखाती हैं कि उपन्यास की नायिका 'हेलेना' नायक 'जीन ब्लोमार्ट' से प्रेम करती है। वह अपने का पूर्णतया 'ब्लोमार्ट' में खो देती है, क्योंकि उसे स्वतः अपने जीवन काइि अर्थ नहीं दिखायी देता। उसके लिए जीवन पूर्णतया ब्लोमार्ट में केन्द्रित है। वह ब्लोमार्ट के प्रति प्यार के द्वारा ही अपनी सत्ता का औचित्य स्थापित करती है। अपने तथा ब्लोमार्ट के पारस्परिक प्रेम से पृथक राजनैतिक परिस्थिति का वह कोई अर्थ नहीं समझती, वस्तुतः तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति को अपने संबंध के लिए खतरनाक मानती है। ब्लोमार्ट जब दूसरों के प्रति अपने उत्तरदायित्व की चर्चा करता है तब वह क्रुद्ध हो जाती है और समझती है कि ब्लोमार्ट को उसकी कोई चिन्ता नहीं है। अन्त में वह ब्लोमार्ट का स्थानान्तरण एक सुरक्षित स्थान पर करवा देती है, इससे ब्लोमार्ट के मन में उसके प्रति वितृष्णा उत्पन्न हो जाती है और वहीं पर दोनों के सम्बन्ध टूट जाते हैं। 'सिमोन द बोउआ' अपने उपन्यास की नायिका 'हेलेना' का ब्लोमाट्र के प्रति दृष्टिकोण को आत्म केन्द्रित एवं स्वार्थपूर्ण होने की अपेक्षा आत्मविश्वास के अभाव का सूचक मानती हैं। वस्तुतः 'हेलेना' अपनी पूर्णता की खोज 'ब्लोमार्ट' की दृष्टि में करना चाहती है। अपनी वास्तविकता का सामना करने में असमर्थ हेलेना अपने को समस्त वस्तुओं के केन्द्र के रूप में स्थापित करना चाहती हैं किन्तु ब्लोमार्ट से सम्बन्ध विच्छेद हो जाने पर वह दूसरी दुरावस्था का शिकार होती है। वह अपना निर्वैयक्तिकीकरण कर डालती है। अपनी व्यष्टिता को तथा अपने चुनाव स्वातंत्र को स्वीकारने के बजाय अब वह अपने को इतिहास की एक कठपुतली समझने लगती है, मानों उसका अपना कोई अस्तित्व ही न हो। वह जर्मन सरकार के अन्तर्गत कार्य करना भी स्वीकार कर लेती है तथा जर्मनों द्वारा फ्रांसीसी जनता के प्रति उत्तर दायित्व से अपने को मुक्त रखती है। परन्तु यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं चली। स्वतंत्र आत्मा की पुकार को वह अन्ततः अनसुनी न कर सकी। उसे यह अनुभूति हुई कि उसे अपनी भूमिका का चुनाव करना है, क्योंकि चुनाव न करना भी एक प्रकार का चुनाव करना है।

अपने दायित्व की अनुभूति उसे तब होती है जब वह गैस के लिए लाइन में खड़ी होती है और यह देखती है कि एक बच्चे की निगाहें उसी पर केन्द्रित है। अब उसे दूसरेां के अस्तित्व एवं उनके प्रति अपने उत्तर दायित्व का बोध होता है तथा वह लाइन में अपना स्थान उस बच्चे को लिए हुए औरत को दे देती है। उसकी यह भावुक प्रतिक्रिया उसके जीवन को नया मोड़ देती है। अब वह ब्लोमार्ट के साथ जो कि भूमिगत कार्यकर्ताओं का नेता है, कार्य करने का निश्चय करती है। यहां हेलेना के जीवन में दो महत्वपूर्ण बातें होती हैं –

(i) उसे ब्लोमार्ट के प्रेम सेप्रथम बार सुख की अनुभूति होती है, क्योंकि अब वह ब्लोमार्ट को ऐसे व्यक्ति के रूप में प्रेम करती है, जिसका अपना भी जीवन है जो केवल

उकसे अस्तित्व का औचित्य आधार नहीं है तथा

(ii) उसे जीवन में कुछ सार्थकता दिखायी देती है क्योंकि अब वह एक उद्देश्य के प्रति प्रतिबद्ध है जिसके लिए मृत्यु को भी स्वीकार कर सकती है (औरवस्तुतः उसी कार्य के लिए वह मर भी जाती है)। जब तक 'हेलेना' चुनाव एवं उत्तरदायित्व से पलायन करती रही, उसकासारा जीवन 'दुरावस्था' द्वारा प्रेरित था।

14.6 ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार मनुष्य का सारा धार्मिक जीवन दुरावस्थापर आधारित है।

ज्याँ पाल सार्त्र यह मानता है कि मनुष्य का सारा धार्मिक जीवन दुरावस्था पर आधारित है। धार्मिक व्यवहार आत्म पलायन या ईश्वरीय आस्था पर आधारित होता है। ईश्वर की धारणा मनुष्य की अतार्किक इच्छा है जिसके द्वारा वह वस्तुओं का स्थायित्व एवं असंदिग्धता तथा मनुष्य की स्वतंत्रता दोनों को एकसाथ प्राप्त करना चाहता है। वह मनुष्य के उत्तर दायित्व से बचना चाहता है, किन्तु 'निज में सत' से श्रेष्ठ सत्ता भी प्राप्त करना चाहता है, वह चेतन वस्तु (इन इटसेल्फ–फार इटसेल्फ) होना चाहता है। परन्तु यह सर्वथा एक असंगत कल्पना है, मानवीय वास्तविकता के प्रति कूल है। ऐसी इच्छा सभी मानवीय संभावनाओं को परिसमाप्त कर देती है। सार्त्र के अनुसार ईश्वर की अस्वीकृति मानव स्वातंत्र तथा उत्तरदायित्व की स्वीकृति है और इसके विपरीत ईश्वर स्वीकृति मानव स्वातंत्र की अस्वीकृति एवं उस स्वतंत्रता से उत्पन्न उत्तरदायित्व के भार से बचने का कल्पित उपाय 'दुरावस्था' है।

14.7 ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार सम्पूर्ण मानवीय सम्बन्ध दुरावस्था द्वारा नियमित हैं।

ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार सम्पूर्ण मानवीय सम्बन्ध दुरावस्था द्वारा नियमित है। ज्याँ पाल सार्त्र ने स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया है कि मानवीय सम्बन्ध दुरावस्था द्वारा ही नियमित है। सम्पूर्ण मानवीय संबंधों में या तो एक व्यक्ति दूसरे को साधन बनाकर उसकी स्वतंत्रता का अपहरण करता है अथवा दूसरे के समक्ष पने को साधन के रूप में प्रसतुत कर देता है जिससे वह अपने उत्तर दायित्व से बच सके अथवा किसी अपूर्ण पूर्णता के नाम पर समस्त मानवीय सम्बन्धों एवं प्रेमपूर्ण सम्बन्धों को समाप्त करना चाहता हो, क्योंकि कोई उसका पात्र नहीं है।

इस प्रकार ज्याँ पाल सार्त्र के दुरावस्थाकी व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि सार्त्र के अतिरिक्त 'सिमोन द बोउआ' तथा कामू भी यह मानते हैं कि अधिकांश मानव व्यवहार दुरावस्था पर आधारित हैं, किन्तु इन अस्तित्ववादियों का यह विश्वास नहीं है कि सदास्था संभव हीनहीं है। मनुष्य बिना भ्रांतियों के भी रह सकता है। उसकी यह स्वीकृति कि वह केवल मनुष्य है, मानवीय संभावनाओं की स्वीकृति है। मनुष्य का मनुष्य

के रूप में बोध उसकी स्वतंत्रता की खोज है। मनुश्य की यह स्वतंत्रता उसके भविष्य का उद्घाटन करती है, जो केवल मनुष्य के द्वारा निर्मित एवं नियंत्रित है।

14.8 निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि दुरावस्था के जीवन में मनुष्य वस्तुतः अपनी आन्तरिकता में अन्तर्निहित चिन्ता, दुख, निराशा से मुक्ति पाने के उपक्रम में अपना अमानवीयकरण करता जाता है। उसे ऐसा लगता है कि चिन्ता, निराशा दुख इत्यादि चेतन मानव को होती ही है और इससे बचने या मुक्ति पाने के लिए वह बहानोंकी खोज करता है। इतना ही नहीं मनुष्य अपने स्वतंत्रता को परिसीमित कर उससे उत्पन्न उत्तरदायित्व से भी पलायन करना चाहता है, जिसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य एक छद्म जीवन जीता है, जिसमें वह स्वयं से झूठ बोलता है तथा अपनी वास्तविकता को भी स्वयं से छिपाता है। दुरावस्था की ऐसी अवस्था को आत्म प्रवंचना कहा जाता है, जिसमें मनुष्य के प्रामाणिक जीवन में कृतिमता का प्रवेश हो जाता है और वह अपनी मानवीय गरिमा खो देता है।

14.9 सारांश

ज्याँ पाल सार्त्र ने अपने अस्तित्ववाद में 'दुरावस्था' का विवेचन करते हुए यह बताया है कि दुरावस्था आत्म प्रवंचना है। दुरावस्था में मनुष्य स्वयं से झूठ बोलता है। वह स्वयं में सत्यको छिपाता है। ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि जब मनुष्य अपने चेतन सत् की वास्तविकता से भागने का प्रयास करता है, ऐसे कारणों की खोज करता है जिससे स्वयं के उत्तरदायित्व से बच सके, तो वह अपने स्वतंत्रता को सीमित करने के लिए बहानों की खेाज करता है। यह मनुष्य की अपने उत्तरदायित्व से बचने की रक्षा प्रविधि है जिसे ही सार्त्र 'दुरावस्था' की संज्ञा से अभिहित करते हैं। 'दुरावस्था' की व्याख्या के लिए ज्याँ पाल सार्त्र फ्रायड की आत्म प्रवंचना की आलोचना करता है और यह दिखाता है कि मानव की यह 'दुरावस्था' दो रूपों में व्यक्त होती है–

(i) मनुष्य अपने चेतन सत्ता को अचेतन वस्तु के रूप में परिणत कर दे।

(ii) मनुष्य अपने को अन्य के दृष्टि का विषय मात्र बना दे।

ज्याँ पाल सार्त्र ने विभिन्न उदाहरणों के द्वारा दुरावस्था की उपर्युक्त दो स्थितियों का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। सार्त्र का मानना है कि दुरावस्था की यह अवस्था धार्मिक जीवन में व्यक्त होती दुरावस्था पर ही आधारित है। धार्मिक जीवन के साथ–साथ सार्त्र सम्पूर्ण मानवीय सम्बन्धों को भी दुरावस्था पर ही आधारित बताते हैं। परन्तु इन सबके बावजूद यदि मनुष्य को केवल मनुष्य समझा जाय और उसकी संभावनाओं को स्वीकार किया जाय तो सदास्था भी संभव है।

14.10 बोध प्रश्न

1. ज्याँ पाल सार्त्र के 'दुरावस्था' के सम्प्रत्यय का विवेचन कीजिए।
2. 'दुरावस्था' के उस अवस्था का विवेचन कीजिए जिसमें मनुष्य स्वयं को अचेतन सत् में परिणत कर देता है।
3. दुरावस्था के उस अवस्था का वर्णन कीजिए जिसमें मनुष्य स्वयं को अचेतन सत् में परिणत कर देता है।
4. दुरावस्था के उस अवस्था का वर्णन कीजिए जिसमें मनुष्य अपने को अन्य के दृष्टि का विषय मात्र बना लेता है।

7.4.11 उपयोगी पुस्तक

1. समकालीन पाश्चात्य दर्शन : प्रो. बी.के. लाल
2. अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक : लक्ष्मी सक्सेना, सभाजीत मिश्र
3. ज्याँ पाल सार्त्र (मानव अस्तित्व, स्वतंत्रता एवं उत्तरदायित्व) : डॉ श्यामकान्त
4. Jean Paul Sartre - Maurice

इकाई –15 ज्यां पाल सार्त्र : अस्तित्ववाद एवं मानवाद

इकाई की रूपरेखा :

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 अस्तित्ववाद मानव वास्तविकता का दर्शन है।

15.3 ज्यां पाल सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन का प्रमुख कार्य मनुष्य को उसके अस्तित्वपरक प्रश्नों के प्रति सचेत करना है।

15.4 ज्यां पाल सार्त्र के अनुसार अपने कार्यों के द्वारा मनुष्य अपने स्वरूप का निर्धारण करता है।

15.5 ज्यां पाल सार्त्र के अस्तित्ववाद में मनुष्य परिताप है।

15.6 ज्यां पाल सार्त्र के अनुसार मानव स्वातंत्र्य की मनुष्य को उसका सार प्रदान करता है।

15.7 ज्यां पाल सार्त्र का अस्तित्ववाद मानववाद है।

15.8 सार्त्र ने अपने अस्तित्ववाद में वास्तविक मनुष्य को मूल्यों के केन्द्र में रखा है।

15.9 निष्कर्ष

15.10 सारांश

15.11 बोध प्रश्न

15.12 सहायक पुस्तक

15.0 उद्देश्य

– प्रस्तुत इकाई में यह स्पष्ट किया गया है कि ज्यां पाल सार्त्र का अस्तित्ववाद मानव केन्द्रित होने के कारण मानवतावादी है।

– मानव मूल्यों का कोई प्रागनुभविक स्रोत नहीं है, बल्कि मनुष्य ही मूल्यों का स्रस्टा है, इसलिए सार्त्र का अस्तित्ववाद मानवादी है।

– ज्यां पाल सार्त्र अपने अस्तित्ववाद में वास्तविक मनुष्य को मूल्यों के केन्द्र में रखा है, इसलिए ज्यां पाल सार्त्र का अस्तित्ववाद मानववादी है।

15.1 प्रस्तावना

ज्यां पाल सार्त्र का अस्तित्ववाद मानव केन्द्रित दर्शन है। यह मानवीय वास्तविकता का दर्शन है, क्योंकि इसका उद्देश्य मनुष्य को दार्शनिकता के प्रथम स्तर पर ले जाकर यह प्रश्न पूछना है कि 'मनुष्य होने का क्या अर्थ है?' अस्तित्ववाद यह मानता है कि अस्तित्व विचार से परे है तथा मानव अस्तित्व का कोई पूर्व निर्धारित सार नहीं है। मानव अस्तित्व व्यक्तिगत अभियान का विषय है तथा इस में व्यक्ति अपनी मूल स्वतंत्रता का बोध करता है। मानव की अस्तित्वपरक समस्यायें विचार की समस्यायें नहीं हैं, वरन् क्रिया का विषय हैं। अपने कार्यों के द्वारा मनुष्य का अपने सार का निर्धारण

करता है। अपने कार्यों के द्वारा मनष्य अपने सार को निर्धारित तो करता ही है, साथ ही व दूसरों का भी सार निर्धारित करता है। वास्तविकता यह है कि मनुष्य अपने प्रयासों द्वारा निरन्तर नये मूल्यों एवं लक्ष्यों की खोज करता रहता है। कोई ऐसी स्थिति नहीं है जहां पहुंचकर उसकी समस्त संभावनाओं का अंत हो जाय। यही कारण है कि ज्यां पाल सार्त्र अस्तित्ववाद को मुख्यतः व्यक्ति के स्वतंत्रता एवं निजता का दर्शन माना है। यह ज्ञान का नहीं, वरन् क्रिया का दर्शन हे। यह जीवन को सैद्धांतिक कोटियों में बांधने का नहीं, अपितु उसे जीने का दर्शन है।

ज्यां पाल सार्त्र का यह कहना है कि अस्तित्ववादी दर्शन की वास्तविक समस्या मनुष्य को उसके वास्तविक अस्तित्वगत प्रश्नों के समक्ष खड़ा करना है। ज्यां पाल सार्त्र अपने अस्तित्ववाद में मूर्त मानव को अपने अध्ययन का विषय बनाया है और यह स्पष्ट किया है कि वास्तविक मानव अस्तित्व का तात्पर्य जगत में स्थित मानव अस्तित्व से है। ज्यां पाल सार्त्र का यह मानना है कि मनुष्य सक्रिय रूप से सम्पूर्ण मानवता में साझीदार है तथा इसी कारण उसमें गम्भीर उत्तर दायित्व की भावना है। अपने निर्णय एवं व्यवहार की स्थिति में हर व्यक्ति इस विचार से ग्रस्त है कि जैसे समस्त मानवता की निगाहें उसी पर केन्द्रित हैं, इसलिए अपने अस्तित्व की निजता में सीमित रहना उसके लिए संभव नहीं है। ज्यां पाल सार्त्र अपने अस्तित्ववाद में ईश्वर की सत्ता का निषेध कर देता है और यह स्पष्ट करता है कि अस्तित्व परक परिस्थितियों में मनुष्य को स्वयं अपना मार्ग चुनना है, क्योंकि वह नितान्त अेकला है, वह किसी से निर्देश अथवा सहायता की अपेक्षा नहीं कर सकता है। इसलिए कर्मों के अतिरिक्त मनुष्य की कोई वास्तविकता ही नहीं होती। मनुष्य अपनी योजनाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं है। मनुष्य ही अपने व्यवहार और मूल्यों के लिए उत्तरदायी है। इस प्रकार ज्यां पाल सार्त्र अपने अस्तित्ववाद में यह प्रतिपादित करते हैं कि अस्तित्ववादी सम्पूर्ण मानवता के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है, इसलिए मनुष्य द्वारा रचित मूल्यों का स्वरूप सामान्य होता है।

15.2 अस्तित्ववाद मानव वास्तविकता का दर्शन है।

ज्यां पाल सार्त्र अपने अस्तित्ववाद में मूर्त मनुष्य कें 'जीवन अनुभव' के प्रश्न के प्राथमिक प्रश्न बनाकर अस्तित्ववाद को मानववादी दर्शन के रूप में प्रतिपादित किया। ज्यां पाल सार्त्र के अस्तित्ववाद में 'मनुष्य होने के अर्थ'के आवरण में जो केन्द्रीय समस्या उभर कर आती है, वह मनुष्य एवं जगत की समस्या है, जिसमें मनुष्य रहता है, कार्य करता है तथा अनुभव करता है। इसलिए अस्तित्वाद ऐसे सभी दर्शन तंत्रों का विरोध करता है जिसमें मानव अस्तित्व की उपेक्षा की गयी है।

अस्तित्ववादी दर्शन का प्रमुख उद्देश्य मनुष्य को उसके वास्तविक अस्तित्व तथा अस्तित्वपरक प्रश्नों के सम्मुख खड़ा करना है। अस्तित्ववाद में वास्तविक मनुष्य के अस्तित्व से तात्पर्य जगत में स्थित मानव अस्तित्व से है। अस्तित्ववाद यह मानता है कि मनुष्य एवं जगत का सम्बन्ध एक विषय और दूसरे विषय का सम्बन्ध नहीं है और न ही यह विषय और विषयी का सम्बन्ध है, जिसमें विषय विषयी की रचना है। वह सम्बन्ध उस सत्ता का सम्बन्ध है, जिसमें विषयी अपना शरीर है, अपना जगत है, तथा अपनी परिस्थिति है। इसलिए अस्तित्ववादी दर्शन मानव वास्तविकता का दर्शन माना जाता है। ज्यां पाल सार्त्र का 'अस्तित्व सार का पूर्वगामी है।' यह कथन मानवीय वास्तविकता पर लागू होता है, वस्तुओं के समुदाय पर नहीं। ज्यां पाल सार्त्र के अस्तित्ववाद में यह स्वीकार किया है कि मानव वैशिष्ट्य का जगत से उसके अलगाव का, किसी सामान्य सूत्र में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। सिद्धांतों के माध्यम से मानवीय अस्तित्व की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास मताग्रह है, मानवीय वास्तविकता का मिथ्याकरण है।

मानवीय अस्तित्व की समस्यायें सैद्धांतिक समस्यायें नहीं हैं। अस्तित्ववादी दर्शन का लक्ष्य सामान्य सिद्धांतों की स्थापना करना नहीं है। ज्यां पाल सार्त्र का यह मानना है कि मनुष्य अपने सत्ता में निरन्तर एक प्रश्न बना रहता है। मानवीय वास्तविकता कें संबंध में जगत भी एक प्रश्न है, एक खुली संभावना है। ज्यां पाल सार्त्र का यह मानना है कि मानवीय व्यवहार को किसी सामान्य सूत्र द्वारा सीमित अथवा नियंत्रित नहीं किया जा सकता। मनुष्य का अपना व्यवहार भी उसकी वास्तविकता को परिसीमित नहीं कर सकता क्योंकि मनुष्य अपने व्यवहार द्वारा निरन्तर अपना आत्मनिर्माण करता रहता है।

15.3 ज्यां पाल सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन का प्रमुख कार्य मनुष्य को उसके अस्तित्वपरक प्रश्नों के प्रति सचेत करना है।

अस्तित्ववादी दार्शनिक ज्यां पाल सार्त्र का यह मानना है कि परम्परागत दर्शनशास्त्र का इतिहास मनुष्य के जीवन से सम्बद्ध प्रश्नों का वस्तुगत, सामान्य तथा सुनिश्चित उत्तर की खोज का इतिहास है। परन्तु अस्तित्वादी ज्यां पाल सार्त्र का यह मानना है कि दर्शन का मुख्य कार्य मनुष्य को उसके अस्तित्वपरक समस्या के प्रति सचेत करना है तथा उसकी वस्तुगत उत्तरों के खोज की प्रवृत्ति को रोकना है। ज्यां पाल सार्त्र मार्सल के कथन को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि, 'मार्सल सत्ता की समस्या को सैद्धांतिक समाधान का विषय नहीं मानता, अपितु वह इसे जीने तथा अनुभव करने का विषय मानता है।' ज्यां पाल सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन में यह विचार व्यक्त किया गया है कि जीवन तथा जगत, विचार तथा अस्तित्व की समस्या का कोई समाधान इसमें सक्रिय रूप से भागीदार होकर, इनको जीकर ही निकाला जा सकता है। ज्यां पाल सार्त्र के अस्तित्ववाद का प्रमुख लक्ष्य मनुष्य को जगत में साझीदार बनाकर उसकी अनुभूति कराना है। ज्यां पाल सार्त्र ने अपने अस्तित्ववाद में यह विचार व्यक्त किया है कि मानव अस्तित्व विचार से परे हैं, व्यक्तिगत अभियान का विषय है तथा इस अभियान में व्यक्ति अपने मूल स्वतंतत्रा का बोध करता है।

मानव की अस्तित्वपरक समस्यायें विचार की समस्यायें नहीं हैं, वरन् क्रिया द्वारा ही मनुष्य इन समस्याओं का सामना करता है, इन्हें रूपान्तरित करता है। अपनी क्रियाओं द्वारा मनुष्य एक संश्लेषण, मूर्त सामान्य, एक अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचना चाहता है, किन्तु वह अन्तिम लक्ष्य उसकी क्रियाओं का परिणाम है। यद्यपि मनुष्य भविष्य का नियामक नहीं हो सकता किन्तु उसका क्षेत्र एक खुली संभावना है। मनुष्य अपने प्रयासों द्वारा निरन्तर नये मूल्यों एवं लक्ष्यों की खोज करता रहता है। कोई ऐसी स्थिति नहीं है जहां पहुंचकर सभी संभावनाओं की परिसमाप्ति हो जाए। सार्त्र के इस कथन का 'मनुष्य मनुष्य का भविष्य है; यही तात्पर्य है। मनुष्य का कार्य ही उसका स्वरूप है।

15.4 ज्यां पाल सार्त्र के अनुसार अपने कार्यां के द्वारा मनुष्य अपने स्वरूप का निर्धारण करता है।

ज्यां पाल सार्त्र के अनुसार मनुष्य अपने कार्यों के द्वारा अपने स्वरूप का, अपने सार का निर्धारण करता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हर मनुष्य का सार उसका निजी होता है। अस्तित्ववादी होने के बावजूद सार्त्र, 'मनुष्य की एक सामान्यता को स्वीकार करता है। ज्यां पाल सार्त्र का यह स्पष्ट अभिमत है अपने कार्यों के द्वारा मनुष्य अपने सार को निर्धारित तो करता ही है, साथ ही दूसरों का सार भी निर्धारित करता है। अपने व्यवहारों द्वारा मनुष्य अपनी जो 'प्रतिभा' बनाता है, वह उसकी सर्वथा निजी 'प्रतिभा' नहीं होती, वह सभी मनुष्यों की प्रतिभा होती है। यह मनुष्य का महान

अस्तित्वपरक उत्तरदायित्व है, इससे वह बच नहीं सकता। परन्तु मनुष्य अपनी जो प्रतिभा बनाता है, उसका प्रत्याख्यान करने में भी वह समर्थ होता है। मनुष्य की यह विशिष्ट निषेधात्मक क्षमता है, वह जो कुछ है, उसने अपने को कुछ बनाया है, उससे अलग हो सकता है।

मनुष्य की यह निषेधात्मक क्षमता उसके स्वरूप की आन्तरिक संरचना में निहित है, वह तत्वमीमांसीय निरपेक्ष नहीं है, इसी नाते मनुष्य निरन्तर एक प्रश्न बना रहता है। इसीलिए सार्त्र ने मनुष्य को 'अवस्तु' या 'कुछ नहीं' (नथिंग) की संज्ञा दी है। संस्था, समाज तथा वस्तुओं के मध्य रहते हुए मनुष्य उसने अपने का अलग रखता है। इस अलगाव की क्रिया द्वारा वह अपने कार्यों, अपनी उपलब्धियों तथा अपने समक्ष विद्यमान समस्त वस्तुओं के प्रति प्रश्न करता है। इसी 'अलगाव' तथा प्रश्न करने की प्रक्रिया में व्यक्ति को अपनी निजता तथा स्वतंत्रता का बोध होता है।

15.5 ज्यां पाल सार्त्र के अस्तित्ववाद में मनुष्य परिताप है।

ज्यां पाल सार्त्र द्वारा अपने अस्तित्ववाद में मनुष्य को 'परिताप' अथवा 'एकाकी' कहने का तात्पर्य मनुष्य के महत्व एवं गरिमा को कम करना नहीं है, अपितु उसे विशिष्टता प्रदान करना है। सार्त्र द्वारा 'मनुष्य परिताप है' कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य सम्पूर्ण मानवता में सक्रिय रूप से साझीदार है तथा इसी नाते उसमें गम्भीर उत्तरदायित्व की भावना है। ज्यां पाल सार्त्र का कहना है कि मनुष्य अपने लिये जा चुनाव या निश्चय करता है, वह महान उत्तरदायित्व का कार्य है और इस उत्तरदायित्व को अनुभव करने वाला व्यक्ति परिताप की भावना से बच नहीं सकता।

यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि वह जो कुछ कर रहा है वह उसका नितान्त अपना है, केवल उसी को वैसा करने का अधिकार है, तो सार्त्र काण्ट के ढंग से यह प्रश्न उठाते हैं : यदि सभी लोग वैसे ही सोचें, तो क्या होगा? यह प्रश्न निश्चय ही सामान्य मनुष्य के लिए क्षोभ उत्पन्न करने वाला है। जो व्यक्ति इस प्रकार संक्षोभ से इन्कार करता है वह दोहरे व्यक्तित्व वाला है, वह वस्तुतः अपने संक्षोभ को छिपा रहा है। अपने निर्णय एवं व्यवहार की स्थिति में हर व्यक्ति इस प्रकार से ग्रस्त होता है, जैसे समस्त मानवता की निगाहें उसी पर केन्द्रित हों, अपने अस्तित्व के निजता में सीमित रहना उसके लिए संभव नहीं। यही मनुष्य का परिताप है। यह परिताप उत्तरदायित्व की भावना से उत्पन्न है, अतएव यह मनुष्य को निष्क्रियता की ओर नहीं ले जाता, क्योंकि यही मनुष्य की कर्मठता की शर्त है। यह क्रिया के लिए व्यवधान नहीं वरन् क्रिया का ही अंग है।

ज्याँ पाल सार्त्र का यह मानना है कि परिताप का सत्य मनुष्य के एकाकीपन से जुड़ा है। ईश्वर के अस्तित्व को नकारने के महत्वपूर्ण परिणाम होते हैं, तथा संसार में मनुष्य नितान्त अकेला है, क्योंकि ईश्वर के निषेध से मानवीय कर्मों एवं मूल्यों के स्वर्गीय अलौकिक आधार की संभावना समाप्त हो जाती है। मनुष्य का कोई पूर्वनिर्धारित स्वरूप नहीं रह जाता। ऐसी दशा में मनुष्य अपने कार्यों के लिए कोई बहाना नहीं ढूंढ सकता। वह जो कुछ करता है, उसके लिए स्वयं उत्तरदायी है। मनुष्य इसी अर्थ में स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है।

चुनाव और निर्णय करने की स्थिति में वह नितान्त अकेला है, क्योंकि वह न तो ईश्वर का सहारा ले सकता है और न ही सार्वभौम विधान का। सार्वभौम सिद्धांत अत्यन्त अस्पष्ट होते हैं, अस्तित्वपरक परिस्थितियों में व्यक्ति को स्वयं अपना मार्ग चुनना पड़ता है, वह किसी से निर्देश या सहायता की अपेक्षा नहीं कर सकता। अस्तित्ववाद मानता है

कि मनुष्य की उसके कर्मों के अतिरिक्त और कोई वास्तविकता नहीं होती। मनुष्य अपने योजनाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अपने कार्यों के समुच्चय तथा जीवन से पृथक वह कुछ नहीं है। अस्तित्ववाद अतिशय आशा का दर्शन है। मनुष्य स्वतंत्र है, अपने मार्ग का निर्धारक है, मूल्यों का स्रष्टा है। मनुष्य स्वयं अपना निर्माण करता है, उसकी नियति उसी के नियंत्रण में है।

15.6.1 ज्यां पाल सार्त्र के अनुसार मानव स्वातंत्र्य ही मनुष्य को उसका सार प्रदान करता है।

ज्यां पाल सार्त्र का यह मानना है कि मानव स्वातंत्र्य मनुष्य के सारतत्व का पूर्वगामी है, मानव स्वातंत्र्य ही मनुष्य को उसका सार प्रदान करता है। वास्तव में मनुष्य और उसकी स्वतंत्रता में कोई भेद नहीं किया जा सकता। ऐसा नहीं है कि मनुष्य पहले होता है और बाद में वह स्वतंत्र होता है। मनुष्य होने और स्वतंत्र होने में कोई भेद नहीं है। मनुष्य ही स्वतंत्रता है। इसीलिए सार्त्र सोरेन किर्केगार्ड के इस मत का समर्थन करते हैं कि 'स्वतंत्रता के सम्मुख चिन्ता होती है।'

मनुष्य अपने कार्यों के लिए स्वतः उत्तरदायी है, उसका निर्धारण कहीं अन्यत्र से नहीं होता। अपनी योजनाओं के निर्माणार्थ एवं रक्षार्थ मनुष्य नितान्त एकाकी है, उसके सामने कोई बहाना नहीं होता। इसीलिए सार्त्र मनुष्य को इस प्रकार परिभाषित करते हैं, ''मनुष्य जो है वह नहीं है और जो नहीं है वह है।'' सार्त्र के इस परिभाषा के प्रथमार्थ यह अर्थ यह है कि सत्तावान होने की अवस्था में मैं अपने अतीत को विचार का विषय बनाता हूं, उसका परीक्षण करता हूं। इसका अर्थ यह हुआ कि अपने अतीत के सन्दर्भ में मैं विषयों को स्रष्टा हूं तथा अतीत मेरा विषय है अर्थात् मैं अतीत का अतिक्रमण करता हूं, उसकी 'मैं नहीं' के रूप में स्थापना करता हूं। अपना अतीत होते हुए भी मैं अपना अतीत 'नहीं होता'। परिभाषा द्वितीयार्द्ध का सम्बन्ध मेरे भविष्य से है। मैं अपना भविष्य हूं भी और नहीं भी हूं। मैं अपना भविष्य हूं क्योंकि वह मेरा है मेरे द्वारा निर्मित है, किन्तु 'होने के प्रकार' के रूप में मैं अपना भविष्य नहीं हूं, मुझे अभी होना है। इस प्रकार मैं अपना अतीत हूं और नहीं भी, अपना भविष्य हूं भी और नहीं भी। मेरे वर्तमान तथा अतीत एवं वर्तमान एवं भविश्य के बीच 'कुछ भी नहीं' (नथिंग) खड़ा है। मेरा अतीत 'निज में वस्तु' है, मेरे वर्तमान की सहमति के बिना वह उसे प्रभावित नहीं कर सकता, उसी प्रकार मेरा भविष्य मेरी योजना है तथा मेरी सहमति के बिना वह मेरे वर्तमान को प्रभावित करने में असमर्थ है।

15.6.2 ज्यां पाल सार्त्र का यह मानना है कि मनुष्य पूर्णतया स्वतंत्र है। स्वतंत्रता मानवीय वास्तविकता का पर्यायवाची है। मनुष्य का स्वरूप उसकी स्वतंत्रता का परिचायक है। मनुष्य का कोई पूर्व निर्धारित स्वरूप या सारतत्व नहीं होता, मनुष्य स्वयं अपना निर्माण करता है। वह अपने मूल्यों की स्वयं रचना करता है। मूल्यों का आविर्भाव मानवीय वास्तविकता के साथ होता है। मनुष्य का चुनाव ही मूल्यों को निर्धारित करता है, उसमें चुनाव से पहले कोई मूल्य नहीं थे। मानवीय मूल्यों का कोई प्रागनुभविक स्रोत नहीं है। मनुष्य ही मूल्यों का स्रस्टा है तथा अपने स्वत्रंत चुनावों द्वारा उसे सार्थकता प्रदान करता है।

7.5.7 ज्यां पाल सार्त्र का अस्तित्ववाद मानववाद है।

ज्यां पाल सार्त्र के अनुसार अस्तित्ववाद अपने मानव केन्द्रित विचारों के कारण मानववाद है। मानववादी विचारधारा में मनुष्य की व्यष्टिता एवं स्वतंत्रता को प्रमुखता दी जाती हैं मानववाद यह मानता है कि के मूल्यों का कोई प्रागनुभविक एवं अनुभवातीत

स्रोत नहीं है। इस प्रकार सार्त्र यह मानता है कि अस्तित्ववादी सम्पूर्ण मानवता के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करता है, इसलिए मनुष्य द्वारा रचित मूल्यों का स्वरूप सामान्य होता है।

सार्त्र का यह मानना है कि मानववादी अनुभूति का आविर्भाव किसी 'अन्य' कारण से न होकर मानव अस्तित्व की अनिवार्य संरचना का जगत की निरर्थकता का परिणाम है। जगत की निरर्थकता हम सब की शत्रु है, क्योंकि वह जीने के लिए कोई कारण नहीं प्रस्तुत करती तथा उस निरर्थकता के सक्षम हम सभी एकाकी हैं, प्रागनुभविक एवं अनुभवातीत आधारों से रहित। एकाकीपन की यह भावना हमें सहयात्रियों के सम्बन्ध में लाती है, क्योंकि हम यह जानते हैं कि वे सभी उस एकाकीपन की अनुभूति से त्रस्त हैं। अपने एकाकीपन से संघर्ष करते हुए हम सम्पूर्ण मानवीय स्थिति के विरुद्ध संघर्ष करते हैं।

15.8 सार्त्र ने अपने अस्तित्ववाद में वास्तविक मनुष्य को मूल्यों के केन्द्र में रखा है।

सार्त्र का यह मानना है कि मानव मूल्यों का केन्द्र स्वयं मनुष्य ही है। यद्यपि सार्त्र अपनी रचना 'नाशिया' में मानववाद पर व्यंग्य किया है, किन्तु बाद में यह सिद्ध किया है कि अस्तित्ववाद मानववाद है। सार्त्र के इस विचार परिवर्तन का कारण यह है कि 'नाशिया' में उल्लिखित मानववादी पूर्णतावादी है, उसके लिए वास्तविक मनुष्य की अपेक्षा मनुष्य का प्रत्यय अधिक महत्वपूर्ण है। उसका मनुष्य एक सामान्य प्रत्यय है। सार्त्र का यह मानना है कि 'नाशिया' में उल्लिखित मानववादी खतरनाक हो सकता है, वह किसी वर्ग विशेष से तादात्म्य स्थापित कर सकता है तथा उसके हित में व्यष्टि का उत्सर्ग कर सकता है। सार्त्र के मानववाद में मानव स्वभाव पूर्वनिर्मित नहीं है, वह निरन्तर निर्माणाधीन है। हर व्यक्ति का जीवन एक योजना है, सतत् अभियान है, चुनाव की प्रक्रिया है तथा यह सब मानवीय जगत में होता है। अपने एकाकीपन में मनुष्य नियमों, मूल्यों एवं नैतिक प्रतिमान का स्रष्टा है।

सार्त्र ने अपने उपन्यास 'नाशिया' में उल्लिखित मानववाद का स्पष्टीकरण देते हुए कहता है कि नाशिया में वर्णित मानववाद वह सिद्धांत है जो मनुश्य को अपने आप में साध्य के रूप में स्वीकार करता है, जिसके अनुसार मनुष्य के सन्दर्भ में एक सार्वभौम निर्णय दिया जा सकता है। अस्तित्ववाद ऐसे मानववादी परिकल्पना में विश्वास नहीं करता, क्योंकि यह सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि मनुष्य का कोई निर्धारित स्वरूप नहीं है। सार्त्र के ही शब्दों में 'ऐसी मानववादी विचारधारा का अन्त फासिस्टवाद में होता है।'' लेकिन मानववाद का एक गम्भीरतम् है, जिसे सार्त्र स्वीकार करता है, मानवीय जगत के अतिरिक्त अन्य कोई जगत नहीं है, यह मनुष्य के व्यष्टिता का जगत है। मनुष्य निरन्तर अपना अतिक्रमण एवं निषेध करते हुए अपनी सत्ता एवं स्वरूप का निर्माण करता है। अतिक्रामी मूल्यों की खोज में ही वह अपनी सत्ता का अर्थ ढूंढता है, वही उस अतिक्रमिता का केन्द्र भी है।

15.9 निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि सार्त्र के तीन ग्रन्थ उसके दर्शन के तीन मोड़ों का संकेत करते हैं। ये ग्रन्थ हैं : एग्जिस्टेंशियलिज्म एण्ड ह्यूमनिज्म, बीइंग एण्ड नथिंगनेस क्रिटिक आफ डायलेक्टिकल रीजन'। सार्त्र के प्रथम ग्रन्थ वह प्रकाशन है जिसमें उसकी अपने अस्तित्ववादी होने की स्वीकृति है, जिसमें वह आस्तिक एवं नास्तिक

अस्तित्ववाद में भेद करता है तथा अस्तित्ववाद को मानववाद के रूप में प्रस्तुत करता है। इसमें वह तर्कबुद्धिवाद तथा अनुभवतीतवाद का खण्डन करके यह स्थापित करता है कि मनुष्य की सत्ता 'नितान्त एकाकी' है। उसका स्वरूप किसी दिव्य स्रोत द्वारा प्रदत्त नहीं है, अपितु वह स्वयं अपने स्वरूप का चुनाव एवं निर्धारण करता है। 'चुनाव' एवं निर्धारण की इस प्रक्रिया में मनुष्य का कोई सहायक या मार्गदर्शक नहीं है। वह जो कुछ करता है या जो कुछ है, उसके लिए स्वयं उत्तरदायी है। मनुष्य पूर्णतया स्वतंत्र है, वही मूल्यों को स्रष्टा तथा प्रतिमानों का निर्धारक है। ऐसा कोई भी प्रागनुभविक अथवा निरपेक्ष सिद्धांत नहीं है, जो मनुष्य के लिए चुनाव का आधार बने या जिसके आधार पर मनुष्य कोई निर्णय ले सके। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या हर व्यक्ति के निर्णय मूल्य तथा मानदण्ड अलग–अलग होते हैं? क्या मूल्यों की कोई सामान्य दुनिया नहीं है? इस प्रश्न पर विचार करते हुए सार्त्र कहता है कि सामान्य सूत्र पर आधारित न होते हुए भी व्यक्ति द्वारा लिये गये निर्णयों एवं किए गए चुनावों में एक सार्वभौमिकता होती है। इसका कारण यह होता है कि स्वतंत्रता जन्य उत्तरदायित्व के भार से दबे होने के कारण व्यक्ति सदैव इस बात के लिए सचेत रहता है कि वह दूसरों के दृष्टि का विषय है, उसकी क्रियाओं के ऊपर समस्त मानवता की निगाहें टिकी हुई हैं। परिणाम स्वरूप उसके द्वारा लिये गये निर्णय तथा स्वीकार किए गये मूल्य और मानदण्ड नितान्त उसके लिए नहीं है। ऐसी स्थिति में किसी मनुष्य द्वारा किया गया चुनाव सारी मानवता के लिए किया गया चुनाव है।

मनुष्य अपने चुनावों द्वारा इस सार्वभौमिकता को उत्पन्न करता है। इस सार्वभौम मानववाद में एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य के कार्यों को कोई पूर्वस्थित वस्तुगत सन्दर्भ नहीं है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसके कार्य नितान्त व्यक्तिगत हैं तथा उसकी दुनिया उसकी सर्वथा निजी दुनिया है। इसके विपरीत, अपनी स्वतंत्र रचनात्मकता के द्वारा मनुष्य अन्तर्विषयिता के जगत में प्रवेश करता है। वह दूसरों के अस्तित्व एवं उसकी स्वतंत्रता के महत्व कोपहचानता है तथा यह अनुभव करता है कि वे सभी उसे अस्तित्व एवं स्वतंत्रता की शर्तें हैं। वह यह भी समझता है कि दूसरों के अस्तित्व के सन्दर्भ में ही वह एक सार्थक प्रतिबद्धता का जीवन व्यतीत कर सकता है। इसी बात को लक्ष्य करते हुए सार्त्र यह कहता है कि अस्तित्ववाद निराशा, कर्महीनता तथा व्यक्तिवादिता का दर्शन न होकर अतिशय आशा, कर्मठता तथा सार्वभौम मानववादी दर्शन है।

15.10 सारांश

ज्यां पाल सार्त्र का दर्शन मानव केन्द्रित दर्शन है। ज्यां पाल सार्त्र का यह मानना है कि मनुष्य सक्रिय रूप में सम्पूर्ण मानवता में साझीदार है। अस्तित्ववाद सम्पूर्ण मानवता के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुए मानव द्वारा सृजित मूल्यों को सार्वभौम मूल्य के रूप में मान्यता प्रदान करता है। इसलिए अस्तित्ववाद मानव वास्तविकता का दर्शन है। यह मनुष्य को उसके अस्तित्वपरक समस्या के प्रति सचेत करता है। सार्त्र का यह मानना है कि अपने कार्यों के द्वारा ही मनुष्य अपने स्वरूप को निर्धारित करता है। सार्त्र ने इसीलिए मनुष्य को परिताप कहा है।

सार्त्र का यह मानना है कि मानव स्वातंत्र ही मनुष्य को उसका सार प्रदान करती है। सार्त्र मानवीय मूल्यों का कोई प्रागनुभविक स्रोत नहीं मानता है। उसका मानना है कि मनुष्य ही मूल्यों का स्रस्टा है तथा वही मूल्यों को सार्थकता प्रदान करता है। सार्त्र का यह स्पष्ट अभिमत है कि मनुष्य द्वारा किया गया कोई चुनाव सारी मानवता के लिए किया गया चुनाव है। मनुष्य अपने कार्यों द्वारा सम्पूर्ण मानवता के 'प्रतिमा'का निर्माण करता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि सार्त्र का अस्तित्ववाद मानववाद है।

15.11बोध प्रश्न

1. ज्याँ पाल सार्त्र का अस्तित्ववाद मानववाद है? विवेचना कीजिए।
2. ज्याँ पाल सार्त्र के मानववाद की सामान्य विशेषताओं को बताइए।

15.12सहायक पुस्तक

1. समकालीन पाश्चात्य दर्शन : प्रो. बी.के. लाल
2. अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक : लक्ष्मी सक्सेना, सभाजीत मिश्र
3. ज्याँ पाल सार्त्र (मानव अस्तित्व, स्वतंत्रता एवं उत्तरदायित्व) – डॉ. श्यामकान्त
4. Jean Paul Sartre - Maurice